विपश्यी-साधकों के प्रेरणार्थ

धर्म-ज्योति

कल्याणमित्र श्री सत्यनारायण गोइन्का

प्रकाशक

विपश्यना विशोधन विन्यास

बम्बई- १८

लेखक-परिचय

'कल्याण मित्र' श्री सत्य नारायण गोइन्का

जन्म : माण्डले, बरमा - सन् १९२४

बरमा के प्रसिद्ध उद्योगपति, व्यवसायी और समाजसेवी।

बरमा के महालेखपाल ऊ बा खिन से सर्वप्रथम सन् १९५५ में विपश्यना की साधना सीखी। तब से अभ्यास का क्रम जारी रहा। सन् १९६९ में भारत आए। व्यापार-धंधे से अवकाश प्राप्त कर भारत के विभिन्न स्थानों पर 'विपश्यना' साधना-विधि के शिविर लगा रहे हैं।

भारत और विदेशों में पांच स्थाई ध्यान-केन्द्रों की स्थापना हो चुकी है। यहां साधकों के समुचित निवास और भोजनादि की स्थायी व्यवस्था है। श्रीगोइन्काजी और उनके सहायक आचार्यों द्वारा अधिकांश शिविर इन साधना-केन्द्रों में ही संचालित किए जाते हैं। इसी प्रकार देश-विदेश में और भी कई स्थानों पर 'विपश्यना-केन्द्र' स्थापित किये जा रहे हैं।

प्रकाशकीय.

विपश्यनाचार्य "कल्याण-मित्र " श्री सत्यनारायणजी गोइन्का के प्रवचन मुख्यरूपसे साधना-शिविरोंके दौरान साधकोंके लिए ही हुआ करते हैं। सार्वजनिक सभाओं में दिए जानेवाले प्रवचनों को वे बढ़ावा नहीं देना चाहते क्योंकि इनसे अधिकतर वाणीविलास और बुद्धिविलास ही होता है। मात्र प्रवचनों से किसीका कल्याण नहीं होता। यदि अभ्यास करने की प्रेरणा मिले और उस अभ्यासक्रम को जीवन में उतारा जाय तो ये प्रवचन वास्तविक मंगल का कारण बनते हैं। साधना-शिविरों में दिए गए प्रवचन इसी अभीष्ट की पूर्ति करते हैं। चूंकि ये प्रवचन व्यक्तिगत अनुभव के आधार पर व्यवहार-पक्ष को उजागर करनेवाले होते हैं इसलिए साधक इनसे प्रभूत प्रेरणा प्राप्त करता है। साधक चाहता है कि शिविर के पश्चात् भी उसे इस कल्याणकारिणी धर्मवाणीका लाभ मिलता रहे जिससे वह धर्म धारण करने के लिए प्रेरित होता रहे। इसीलिए साधकोंकी ओर से यह मांग सदैव बनी रहती है कि पू.गोइन्काजी द्वारा अधिक से अधिक धर्म-साहित्य प्रणीत हो जिसे पढ़कर वे सत्प्रेरणा प्राप्त करते रहें।

पू.गोइन्काजी ने इस आवश्यकता को स्वीकार किया और फलतः इस मांग को यत्किंचित पूरा करने के उद्देश्य से ही जुलाई १९७१ में "सयाजी ऊ बा खिन मेमोरियल ट्रस्ट" द्वारा "विपश्यना"नामक एक मासिक पत्रिका निकालने का निर्णय लिया गया जिसमें समय-समय पर गोइन्काजी के प्रबोधन और उद्बोधन लेख प्रकाशित होते रहे हैं। इनमें से ही कुछ लेखोंका एक संग्रह १९७६ में "धर्म : जीवन जीने की कला" नामक पुस्तकके रूपमें प्रकाशित हुआ जिसकी लोकप्रियता इतनी बढ़ी कि अब तक उसके तीन हिन्दी संस्करण प्रकाशित हो चुके। इसका अनुवाद अन्य भाषाओं में भी हुआ। यथा—मराठी (जिसका कि दूसरा संस्करण भी निकल चुका है। गुजराती, बंगाली और बरमी के संस्करण विभिन्न

श्री सरदारसिंहजी कोठारी बहुत पुराने विपश्यी साधक हैं। जब पूज्य गुरुजी बरमा से भारत आए थे तो विपश्यनाके शिविर लगवानेमें उन्होंने बहुत सहयोग दिया था। पिछले वर्ष जयपुर के शिविरमें श्री कोठारीजी ने इस निमित्त बहुत आग्रह किया। औरों का भी दबाव था ही। अतः पू. गुरुजीने इस अंक में कुछ लेख व दोहे और जोड़ दिये तथा इसका नया नाम "धर्म-ज्योति" देकर पुस्तकाकार प्रकाशित करनेकी अनुमति प्रदान की।

"सयाजी ऊ बा खिन मेमोरियल ट्रस्ट" के सत्प्रयास से "धर्म-ज्योति" आपके हाथों में पहुँच रही है। अपने नामके अनुरूप यह पुस्तक सचमुच "धर्म-ज्योति" ही है जो कि समय-समय पर साधना-पथिक का पथ आलोकित करती रहेगी।

इस ट्रस्ट की स्थापना परम पूज्य गुरुदेव सयाजी ऊ बा खिनकी पावन स्मृतिमें सन् १९७१ में उनका पार्थिव-शरीर शांत होनेके पश्चात् की गयी थी। प्रस्तुत पुस्तकमें आपके बारे में विशेष जानकारी मिलेगी, जिनके पावन उद्देश्यकी पूर्तिके लिए ही श्री गोइन्काजी अपने स्वास्थ्यकी

चिंता किए बिना अथक परिश्रम करते हुए एक के बाद एक शिविरोंके संचालन में लगे हुए हैं और पतित-पावनी "विपश्यना" धर्म-गंगा को जन-जन के मंगल हेतु प्रवाहमान करते रहने का भागीरथ प्रयत्न कर रहें हैं। उनके इस प्रयत्न में यत्किंचित् भी योगदान देकर हम अपने आपको धन्य मानते हैं।

विपश्यना साधना द्वारा अनेकों का मंगल सधे और इस निमित्त यह पुस्तक प्रेरणा प्रदान करनेमें किंचित् भी सहायक हो सके तो ट्रस्ट का यह प्रयास सफल माना जायेगा।

सभी पाठक मंगललाभी हों!

२०, शहीद भगत सिंह मार्ग,
बम्बई– ४०००२३

विनीत,
श्यामसुन्दर तापड़िया
मानद मंत्री, सयाजी ऊ बा खिन मे. ट्रस्ट

द्वितीय आवृत्तिकी भूमिका

"धर्म ज्योति" की प्रथम आवृत्तिके प्रकाशकीय से
प्रकार "सयाजी ऊ बा खिन मेमोरियल ट्रस्ट" के सत्प्र
प्रकाशमें आयी । परन्तु इस ट्रस्टका मुख्य उद्देश्य **विपश्यना विश्व
विद्यापीठ** के माध्यम से "विपश्यना साधना की व्याव
परिशुद्ध प्रशिक्षण देना ही है। अतः अब पू. गुरुदेव के
प्रकाशन के भार से मुक्त किया जाता है। इसी प्रकार भा
अन्य विपश्यना साधना केन्द्र भी इसी सिद्धान्तका पालन
संबंधी कार्य के लिए **"विपश्यना विशोधन विन्यास"** नामक संस्थान का नवगठन किया गया है जिसका मुख्य उद्देश्य विपश्यना संबंधी साहित्यका संशोधन और प्रकाशन करना है ।

विपश्यना विशोधन विन्यास का कोई ट्रस्टी इन प्रकाशनोंसे व्यक्तिगत आर्थिक लाभ हासिल नहीं कर सकता । यह बिना मुनाफेके काम करनेवाली संस्था होगी। क्रय-विक्रय में यदि कुछ लाभ बच गया तो वह शोधन-प्रकाशन एवं विपश्यना विद्याके लोकहित प्रसारण में ही लगेगा ।

इसका प्रथम सुमन "धर्म-ज्योति" की द्वितीय आवृत्ति के रूपमें प्रकाशित हो रहा है। प्रथम आवृत्तिके समय इसकी ३००० प्रतियाँ छपी थीं जो कि लगभग २ वर्षों में ही समाप्त हो गयीं। दिनोंदिन बढ़ती हुई साधकों की संख्या एवं अन्य लोगोंकी विशेष अभिरुचि को ध्यान में रखते हुए इस बार ५००० प्रतियाँ छप रही हैं ।

वर्तमान परिस्थितियों में प्रकाशन-खर्च बहुत मंहगा हो गया है । फिर भी 'विपश्यना विशोधन विन्यास' का प्रयास यही रहेगा कि पाठक को

कम दामों में अमूल्य विपश्यना-प्रेरक सुन्दर साहित्य उपलब्ध कराए। अब तक विद्यापीठकी ओरसे बिना मूल्य पुस्तक-वितरण की व्यवस्था थी। इस निमित्त कुछ साधक ट्रस्ट के प्रकाशन खातेमें दान दिया करते थे। परन्तु नए परिवेशमें इसकी कीमत निर्धारित की जा रही है ताकि साधकोंके अतिरिक्त सभी क्षेत्र के पाठक निर्बाध रूपसे प्राप्त कर इसका पूरा लाभ उठा सकें। विपश्यनाके विकासन-प्रसारण हेतु विन्यास अपने प्रकाशित साहित्यका यथाआवश्यक अमूल्य वितरण भी करेगा।

साधकों के उत्साहभरे सत्प्रयाससे ही विन्यास ने धर्मज्योति के अतिरिक्त तीन अन्य पुस्तकोंके प्रकाशनका काम हाथ में लिया है जिसमें कि अंग्रेजीका "विपश्यना जर्नल" विशेष उल्लेखनीय है। इसका प्रथम संस्करण हैदराबाद के विपश्यना अन्तर्राष्ट्रीय साधना केन्द्र ने १९८३ में प्रकाशित किया था जिसकी ३५०० प्रतियां लगभग डेढ़ वर्ष में ही समाप्त हो गयीं। एक ओर अंग्रेजी में इसके अतिरिक्त अन्य कोई साहित्य अभी तक उपलब्ध नहीं है और दूसरी ओर इस पुस्तकमें साधककी अन्तःप्रेरणा जाग्रत करके उसे दैनिक अभ्यासमें मदद करनेकी इतनी प्रचुर सामग्री समाविष्ट है कि इसकी मांग उत्तरोत्तर बढ़ती ही जा रही है। अतः खर्चीला होते हुए भी इसके द्वितीय संस्करण का प्रकाशन आरंभ हो चुका है। इसके अतिरिक्त अंग्रेजी में ही दैनिक प्रवचनोंका सारांश संग्रहित रूप में प्रकाशित हो रहा है और गुजराती भाषा में "धर्म : जीवन जीववानी कळा" के प्रकाशन को भी अंतिम रूप दिया जा रहा है।

इसी प्रकार निकट भविष्यमें ही विपश्यना साधना संबंधी पुरातन पालि साहित्य का शोधपूर्ण अनुवाद प्रकाशित किया जायेगा जोकि वर्तमान एवं भावी पीढ़ी को विपश्यना साधना की गहराइयां समझने में सहायक सिद्ध होगा।

मंगल भावनाओं सहित,

अरुण तोपणीवाल

ट्रस्टी, विपश्यना विशोधन विन्यास

अनुक्रमणिका

अभावग्रस्त गरीब मां-बाप के यहां जन्म लेकर भी उन्होंने अपनी कर्म-निष्ठा के बल पर ही ऐसी स्थिति प्राप्त की कि जिससे सारा जीवन सुख-संतोष से भरा रहा। विद्यार्थी-जीवन में भी अत्यन्त कुशाग्र तथा परिश्रमी होने के कारण ही वे हर कक्षा में प्रथम स्थान प्राप्त करते रहे। मैट्रिक की परीक्षा बहुत ऊंचे अंकों से पास की और सरकारी छात्रवृत्ति भी हासिल की। परंतु घर की आर्थिक स्थिति इतनी गई गुजरी थी कि हजार चाहते हुए भी कालेज की शिक्षा नहीं प्राप्त कर सके। मजबूर होकर किसी सरकारी दफ्तर में एक निम्न श्रेणी के क्लर्क की नौकरी से जीवन-चर्या आरम्भ की। परन्तु अपनी नेकनीयती, मेहनत और कर्तव्य-निष्ठा के बल पर ही स्वाधीन बर्मा के प्रथम एकाउंटेंट-जनरल बने, जब कि उनके स्कूली जीवन के अन्य अनेक सहपाठी विश्वविद्यालय की ऊँची से ऊँची शिक्षा प्राप्त करके और आई.सी.एस. अथवा बी.सी.एस. की परीक्षा में उत्तीर्ण होकर भी अब तक किसी विभाग के अध्यक्ष नहीं बन पाए थे। उनकी तुलना में यह केवल मात्र मैट्रिक पढ़े हुए होने पर भी न केवल एक ही विभाग के अध्यक्ष बने, बल्कि सरकारी सेवाकाल में कुछ वर्ष तो ऐसे बीते जब कि एक साथ ४–४ सरकारी विभागों के अध्यक्ष पद पर आसीन रहे और साथ ही साथ न जाने कितनी सलाहकार समितियों के सदस्य भी

बने रहे। यह सारे पद केवल नाममात्र के लिए नहीं थे। एक-एक पद किसी भी अच्छे से अच्छे प्रशासक को दिन-रात व्यस्त रखने के लिए पर्याप्त था। परन्तु यह ऊ बा खिन ही थे जो कि एक साथ इतने पदों के उत्तरदायित्व को बिना थके, मुस्कराते हुए निभा सकते थे। जिन्होंने उन्हें अहर्निश काम में संलग्न देखा है, वे ही विश्वास कर सकते हैं कि कोई एक व्यक्ति इतना काम कैसे कर सकता है! इन जिम्मेदारियों को उन्होंने ऐसी सफलतापूर्वक निभाया कि उनके कार्यकाल में प्रत्येक विभाग में उपलब्धियों के जो कीर्तिमान स्थापित हुए, वे अब तक बेजोड़ ही हैं। यही कारण था कि ५५ वर्ष की अवस्था में सरकारी सेवा से अवकाश प्राप्त कर लेने के बाद भी सरकार ने उन्हें आगामी १२ वर्षों तक सेवा में लगाए ही रखा। ६७ वर्ष की अवस्था में वे जब सेवा-मुक्त हुए भी तो सरकारी अनिच्छा से ही। इतनी लंबी शासन-सेवा न केवल बर्मा के लिए, बल्कि संभवतः विश्व भर की सभी सरकारों के लिए अनूठी बात ही है। अपने दायित्व में अनवरत लगे रहना और आलस्य को पास न फटकने देना, यह पूज्य गुरुदेव का सबसे बड़ा गुण था।

उनकी दूसरी बड़ी विशेषता थी सत्य-निष्ठा। ईमानदारी उनके स्वभाव का अंग बन गई थी। वह जिन सरकारी पदों पर थे, उन पर आसीन होकर कोई भी भ्रष्टाचार से मुक्त न रह सका। वे ऐसी काजल की कोठरियां थीं, जिनमें रहकर ऊ बा खिन जैसा सत्यनिष्ठ व्यक्ति ही बेदाग रह सका। वह न केवल स्वयं भ्रष्टाचार से मुक्त रहे, बल्कि अपने अन्य अनेक साथी, सहयोगी और सहकारियों को भी मुक्त रह सकने योग्य बना सके। सरकारी दायित्व निभाने में वह जहां एक ओर धन-वैभव के अथवा पद-प्रतिष्ठा के प्रलोभन से अडोल रहे वहां दूसरी ओर राजनैतिक नेताओं और मंत्रियों के भय व आतंक के दवाव में आकर कोई भी गलत फैसला करने से भी वचते रहे। उनकी निर्भयता न केवल ऊ नू और ऊ बा श्वे की नागरी सरकार के समय, वल्कि जनरल नेविन की सैनिक सरकार के समय भी वैसी ही दृढ़ रही। निडर रह कर सदैव सत्य

यहां नौकरी करने जा रहा हूं। इस पर आपको पासपोर्ट तुरंत दे दिया जायेगा। परन्तु यह तो सर्वथा असत्य था और असत्य का सहारा लेना अन्य किसी को भले मंजूर हो, ऊ बा खिन को नितांत अस्वीकार्य था। भले वे धर्म-सेवा के निमित्त जाने के लिए अंतिम घड़ी तक तरसते ही रहे परन्तु असत्य का सहारा नहीं लिया।

१९४२ के फरवरी या मार्च महीने की बात है। जापानी सेना रंगून और टौंगू को जीत कर उत्तर बर्मा की ओर बढ़ी चली आ रही थी। अंग्रेजी सरकार तेजी से बर्मा छोड़कर भारत की ओर पलायन कर रही थी। ऊ बा खिन उन दिनों बर्मा-रेल्वे के अकाउंट अफसर थे और मांडले में ही थे। एक दिन जापानियों ने मांडले पर जोरदार बमबारी की, जिसमें स्टेशन सहित रेलवे का कार्यालय भी नष्ट हो गया। रेल्वे के सभी बड़े विदेशी अधिकारी मांडले छोड़कर मेमियो तथा लाश्यो की ओर भाग खड़े हुए। लाश्यो से हवाई जहाज द्वारा भारत की ओर निकल भागने की योजना थी। ऊ बा खिन मांडले में ही रहे, उन्हें तो भारत जाना नहीं था। बमबारी के बाद जब कुछ देर के लिए शांति हुई तो रेल्वे के नष्ट-भ्रष्ट कार्यालय का निरीक्षण करने गए। देखा कि आग से जली सामग्रियों के बीच कार्यालय की तिजोरी सुरक्षित पड़ी है। चाबी उनके पास थी। कूड़े के

ढेर को अलग कर किसी प्रकार तिजोरी खोली और उसमें से रेलवे के खजाने का रूपया निकाला। परन्तु यह सरकारी धरोहर थी। उसे भागती हुई सरकार को लौटाना आवश्यक था। ऊ बा खिन जानते थे कि उस प्रकार बदलते हुए राज्य की अस्त-व्यस्त स्थिति में कौन पूछेगा कि कौन-सी रकम कहां गई? फिर भागा हुआ मालिक तो पूछने भी कहां आयेगा? तो भी ऊ बा खिन उसमें से एक पाई भी अपने पास रखने की कल्पना तक नहीं कर सकते थे। ऐसी थी उनकी सत्य-निष्ठा। घर पर उनकी बच्ची बीमार पड़ी थी। उसके लिए दवा-दारू की सख्त आवश्यकता थी। परंतु ऊ बा खिन के अन्तःकरण में उनका फर्ज आवाज दे रहा था। उन्होंने बिलखते हुए परिवार को छोड़कर तुरंत जीप द्वारा मेमियो की ओर प्रस्थान किया और अपने से बड़े अधिकारी को सारा खजाना सौंप कर ही संतोष की सांस लेते हुए परिवार की देखभाल के लिए मांडले लौटे। इस प्रकार की घटनाओं से उनका सारा जीवन भरा पड़ा है।

करुणा और मैत्री के तो वे मानो साक्षात् अवतार थे। सरकारी जिम्मेदारियों में इस कदर व्यस्त रहने के बावजूद भी उनके मन में अधिक से अधिक लोगों की धर्म-सेवा करने का उत्साह देखते ही बनता था। इतने व्यस्त जीवन में भी वे हर महीने साधना-शिविर लगाने के लिए आवश्यक समय निकाल ही लेते थे। कोई दुखी संतप्त व्यक्ति उनके पास धर्म सीखने आए तो वे अपनी हजार असुविधाओं की भी अवहेलना करके उसे धर्म अवश्य सिखाते थे। कभी-कभी तो केवल एक-दो साधकों के लिए ही शिविर लगा लेते थे और उनके लिए भी उतना ही कड़ा श्रम करते थे। प्रत्येक साधक-साधिका के प्रति उनके मन में असीम वात्सल्य उमड़ता रहता था। सभी उन्हें अपनी ओर से पुत्र-पुत्री जैसे लगते थे। मृत्यु के कुल ३ दिन पूर्व तक उन्होंने एक शिविर-संचालन का कार्य पूरा किया और मृत्यु के पहले दिन तक भी इक्के-दुक्के साधकों को धर्म सिखाते रहे। प्रत्येक साधक के प्रति उनकी असीम करुणा-मैत्री उमड़ती रहती थी। समस्त प्राणियों के प्रति भी उनके मन

में उतना ही असीम प्यार भरा हुआ था। जो आश्रम में रहे हैं वे ही जानते हैं कि उनकी असीम मैत्री-भावना के कारण वहां के सांप-बिच्छुओं तक ने अपना हिंसाभाव त्याग दिया था। सभी प्राणी उनकी असीम मैत्री से प्रभावित थे। आश्रम का कण-कण प्रेम-रस से शराबोर था। आश्रम के पेड़-पौधों की भी बड़े प्यार से सेवा करते थे। आश्रम के फूल-फूल में, पत्ते-पत्ते में उनके अंतर का प्यार छलकता रहता था। यह उनकी मैत्री-तरंगों का ही प्रभाव था कि उस तपोभूमि के फलों का रस-मिठास भी अनूठा, फूलों का रंग-रूप भी अनूठा और उनकी सुरभि-सुगन्ध भी अनूठी ही होती थी।

एक वर्ष अनहोनी बात हुई। बर्मा जैसे धान्य-बहुल देश में अकाल की सी स्थिति पैदा हो गयी। उपज कम हुई। सरकार को चावल की राशनिंग करनी पड़ी। जनता इस स्थिति से अत्यंत व्याकुल हुई। उस समय अपने दुखी देश-वासियों के प्रति गुरुदेव की करुणा असीम हो उठी। न केवल होठों पर, बल्कि उनके रोम-रोम पर यही ध्वनि समाई रहती थी – **"फीतो भवतु लोको च राजा भवतु धम्मिको।"** इसके कुछ समय बाद ही भारत में अकाल पड़ा, लगातार दो वर्ष तक यही स्थिति रही। उनकी करुणा फिर सजीव हो उठी। उन्होंने आश्रम के एक छोर पर शुभ्र हिमालय के उत्तुंग शिखरों की एक प्रतिकृति बनवा रखी थी। रोज उसके समीप खड़े होकर ध्यान करते और समग्र भारत के प्रति अपनी मंगल कामना भेजते। कहते–"मैं न जाने कितनी बार भारत में जन्मा हूं और इस पावन हिम-प्रदेश में ध्यान-भावना के लिए वर्षों रहा हूं। आज उस देश के लोग संत्रस्त हैं, उन्हें सुख-शांति मिले। सभी लोग धर्म-बिहारी बनें।" कभी-कभी कहते,"मुझे भारत तो अवश्य ही जाना है। बर्मा पर भारत का आध्यात्मिक ऋण है, उसे भारत को लौटाना है। मुझे प्राप्त हुई यह अनमोल विपश्यना पद्धति भारत को ही धरोहर है। मुझे उसे लौटाना है। अपनी यह खोयी हुई निधि वापस पाकर भारत धन्य हो उठेगा। न जाने इस समय उस देश में पुण्य-पारमिता वाले कितने लोग पके पकाये

तैयार बैठे हैं। उन्हें सद्धर्म की थोड़ी-सी भी चेतावनी जागृत कर देगी और वे तुरंत धर्म के मार्ग पर आरूढ़ होकर अपना कल्याण साध लेंगे।"

वे स्वयं तो भारत नहीं आ सके, परन्तु उनके आदेशानुसार उनके धर्म-पुत्र द्वारा जब यहां लोगों को विपश्यना दी जाने लगी तो उनकी प्रसन्नता की कोई सीमा नहीं थी। उनके संदेशों में अपरिमित मंगल-मैत्री छलकी पड़ती थी।

इस पुण्य दिवस पर उस महापुरुष के गुणों का स्मरण कर हम भी प्रेरणा पायें और अपने जीवन में उनकी-सी कर्तव्य-निष्ठा, सत्य-निष्ठा, निष्काम सेवा-भावना, मैत्री और करुणा भरने का प्रयास करें। यही कल्याणकर है, यही मंगलकर है, यही श्रेयस्कर है।

दुर्लभ सद्‌गुरु का मिलन, दुर्लभ धर्म मिलाप
धर्म मिला, सद्‌गुरु मिले, मिटे सभी संताप

सद्‌गुरु की संगत मिली, मिला सत्य का सार
जीने का फल मिल गया, उतरा सिर का भार

नमस्कार गुरुदेव को, कैसे संत सुजान
कितने करुणा चित्त से, दिया धर्म का दान

अन्न, वस्त्र, वाहन, भुवन, स्वर्ण-रत्न का दान ।
सब दानों से उच्च है, श्रेष्ठ धर्म का दान ॥

पंथ दिखाया बुद्ध ने, चलना अपना काम ।
चलते-चलते आप ही, मिटते दुःख तमाम ॥

हम ही अपने कर्म से, होते शुद्ध-अशुद्ध ।
अन्य कौन शोधे भला, देव, ब्रह्म या बुद्ध ॥

प्रज्ञा–जल से रगड़ कर, मन के मैल उतार ।
अन्तर्मल छूटे बिना, थोथे सभी सुधार ॥

चित्त हमारा शुद्ध हो, सद्‌गुण से भर जाय ।
करुणा, मैत्री, सत्य से, मन-मानस लहराय ॥

जय जय जय गुरुदेवज्यू, नमनूं सीस नवाय ।
धरम रतन ऐसो दियो, पाप न नेड़ै आय ॥

इसो चखायो धरम रस, विसयन रस न लुभाय ।
धरम सार ऐसो दियो, छिलका दिया छुड़ाय ॥

धरम दियो ऐसो सबल, पग-पग करै सहाय ।
भय-भैरव सब छूटग्या, निरभय दियो बणाय ॥

गुरुवर री करुणा जगी, हुयो किसो कल्याण ।
प्यासा नै इमरत मिल्यो, मिल्यो धरम रो दान ॥

गुरु तो पंथ दिखाणियो, दीन्यो पंथ दिखाय ।
मंजिल आपां पूगस्यां, चाल्यां अपणै पांय ॥

घणा दिनां रुलता फिर्या, आंधी गलियां मांय ।
गुरुवर दीन्यो राजपथ, इब तो मुड़नो नाय ॥

अणजाने भटकत फिर्या, अंधियारै री रात ।
धरम-जोत गुरुवर दयी, मानो उग्यो प्रभात ॥

रोम-रोम किरतग हुयो, रिण न चुकायो जाय ।
जीवाँ जीवण धरम रो, यो ही एक उपाय ॥

शील, समाधि और प्रज्ञा धर्म का प्रयोग-प्रधान पक्ष है। काया और वाणी से शील-सदाचारमय जीवन जीना, समाधि के अभ्यास से चित्त को वश में रखना और प्रज्ञा के बल पर चित्त को सरल, स्वच्छ बनाना यही धर्म का व्यावहारिक पक्ष है जो सांदृष्टिक है—यानि प्रत्यक्ष है और अकालिक है यानि तत्काल फलदायी है।

चित्त अपनी कुटिलता त्यागता है, सरल और स्वच्छ होता है, मृदु और विनीत होता है तो तत्काल हमारा भला सधने लगता है। सही माने में स्वतः स्वार्थ सधने लगता है।

चित्त कुटिलता त्यागता है तो व्यक्ति औरों के अहित में प्रवृत्त होने से बचता है। किंचित मात्र भी दुराचरण नहीं करता। अहंकार के तनाव-खिंचाव से मुक्त होता है। इस प्रकार अपने अमंगल से बचता है तथा औरों के अमंगल का भी कारण नहीं बनता।

चित्त सरल, स्वच्छ होता है तो व्यक्ति सत्कर्मी होता है, सुभाषी होता है, शांत-इंद्रिय होता है। चित्त ऋजु होता है तो मंगलमैत्रीसे,

सद्भावों से भर उठता है। जल, थल, नभ के दसों दिशाओं के सभी प्राणी, चाहे वे स्थावर हों वा जंगम, छोटे हों वा बड़े, दृश्य हों वा अदृश्य, जन्में हों वा अजन्में, इहलोकीय हों अथवा अन्यलोकीय, सभी सुखी हों ! सभी निर्विघ्न हों ! सभी निरामय हों ! सभी निरापद हों ! सबका मंगल हो ! कल्याण हो ! भला हो ! इन्हीं सात्त्विक भावों से उसके तन, मन प्राण लहराने लगते हैं। इस कल्याणकारिणी अपरिमित मंगल मैत्री से वह स्वयं भी लाभान्वित होता है तथा अन्य प्राणियों के भी मंगल का कारण बनता है।

साधको ! यही धर्म का व्यावहारिक पक्ष है। अतः यही करणीय है।

धर्म के इस व्यावहारिक पक्ष में परिपूर्णता प्राप्त कर सकने में भले देर लगे पर इन पुण्य दिवसों पर परम पूज्य गुरुदेव के आदर्शमय जीवन से प्रेरणा पाकर हम इस लक्ष्य के लिए प्रयत्नशील तो हो जायं। इस दिशा की ओर कदम-कदम आगे बढ़ने तो लगें। जरा-जरा मंगल सधने ही लगेगा। शनैः शनैः आगे बढ़ते हुए अपना अधिक-अधिक मंगल साधते हुए ही हम उस चरम परम पद तक पहुँच पायेंगे।

हजार बाधाओं के बावजूद भी सद्धर्म धारण करने का हमारा उत्साह मंद न पड़े, प्रयत्न शिथिल न हों। यही कल्याणकर है।

भला होय सब जगत का, सुखी होंय सब
दूर होंय दारिद्र-दुख, दूर होंय भव-:

जो भी प्राणी जगत के, स्थावर जंगम
मझले या छोटे बड़े, भला सभी का

दृश्य होंय अदृश्य हों, पास होंय या दूर ।
सकल विश्व के जीव सब, भोगें सुख भरपूर ॥

जल-थल-नभ के जीव सब, मंगललाभी होंय ।
अंतर की गाठें खुलें, मुक्ति दुखों से होय ॥

दसों दिशाओं के सभी, प्राणी सुखिया होंय ।
निर्भय हों ! निर्वैर हों ! सभी निरामय होंय !!

सारे प्राणी हों सुखी, सतत् सुरक्षित होंय ।
देखें मंगल ही सदा, दूर अमंगल होय ॥

द्वेस और दुरभाव रो, र वै न नाम निसान ।
स्नेह और सद्भाव सूं, भरल्यां तन मन प्रान ॥

ज्यूं इकलोतै पूत पर, उमड़ै मां रो प्यार ।
त्यूं प्यारो लगतो र वै, यो सारो संसार ॥

मन-मानस महँ प्यार ही, उरमिल उरमिल होय ।
रोम-रोम सूं ध्वनि उठै, सबको मंगल होय ॥

दुखियारां रो दुख मिटै, भय त्यागै भयभीत ।
बैर छोड़कर लोग सब, करै परस्पर प्रीत ॥

बरसै बरखा समय सिर, दूर र वै दुस्काल ।
सासन होवै धरम रो, लोग हुवै खुसहाल ॥

सुख छावै संसार महँ दुखिया र वै न कोय ।
जन-जन-मन जागै धरम, जन-जन सुखिया होय ॥

धर्म-चक्र-प्रवर्तन

मेरे प्यारे साथी साधक-साधिकाओ !

आओ, धर्म-चक्र प्रवर्तित रखें।

यह जो हमारे भीतर ही भीतर प्रतिक्षण लोक-चक्र चल · ... छुटकारा पाने के लिए धर्म-चक्र-प्रवर्तन है। लोक-चक्र ही हमारे स··· .· मूल है। धर्म-चक्र इन सभी दुःखों का निरोधक है।

लोक-चक्र क्या है ? लोक-चक्र मोह है, मूढ़ता है। लोक-च . · . अविवेक है, अविद्या है जिसके कारण हम निरंतर राग और द्वेष की चक्की में पिसते ही रहते हैं। यह जो हमारी ६ इंद्रियां हैं—आंख है, नाक है, कान है, जिह्वा है, शरीर की त्वचा है और मन है, और यह जो इंद्रियों के ६ विषय हैं—रूप है, गंध है, शब्द है, रस है, स्पर्शव्य है और कल्पनाएं हैं ; इनका परस्पर संस्पर्श होता ही रहता है। आंख का रूप से संस्पर्श होता है, नाक का गंध से संस्पर्श होता है, काया का किसी भी स्पर्शव्य-पदार्थ से संस्पर्श होता है, मन का कल्पना से संस्पर्श होता है। ऐसा कोई भी संस्पर्श होते ही तत्काल हमारे चित्त में कोई न कोई संवेदना जागती है। यदि वह संवेदना हमें प्रिय लगी तो हम तत्संबंधित विषय से चिपकाव पैदा कर लेते हैं याने राग पैदा कर लेते हैं। यदि यह संवेदना अप्रिय लगी तो तत्संबंधित विषय से दुराव पैदा कर लेते हैं याने द्वेष पैदा कर लेते हैं। चाहे राग उत्पन्न हो, चाहे द्वेष, दोनों ही हमारे मन में तनाव-खिंचाव पैदा करते हैं, उत्तेजना पैदा करते हैं। यहीं लोक-चक्र का आरंभ हो जाता है। अपनी नासमझी से ही हम यह उत्तेजना पैदा कर लेते हैं जो कि गहरी आसक्तियों में परिवर्तित होकर दूषित भव-चक्र के रूप में बढ़ने लगती है और हमें व्याकुल, व्यथित बनाती रहती है और हमारा दुख-संसार बढ़ाती रहती है। इसी भव-चक्र को काटने के लिए हमारे भीतर धर्म-चक्र का जागते रहना बड़ा जरूरी है। यदि हमारे भीतर धर्म-चक्र जागता है तो विवेक जागता है, विद्या जागती है, होश जागता है और जैसे ही

इंद्रियों और विषयों के संस्पर्श से चित्त में कोई संवेदना पैदा होती है-प्रिय या अप्रिय संवेदना, सुखद या दुखद संवेदना, -वैसे ही पागलों की तरह उन-उन विषयों के प्रति राग-रंजित और द्वेष-दूषित भाव जगाने के बजाय उनके नश्वर, निस्सार स्वभाव को समझ कर उनके प्रति प्रज्ञा-भाव जागता है। अनासक्ति-भाव जागता है। इस प्रकार लोक-चक्र का प्रवर्तन रुक जाता है और उसका विस्तार नहीं हो पाता। यही धर्म-चक्र-प्रवर्तन का प्रत्यक्ष लाभ है। विपश्यना साधना के अभ्यास द्वारा हमारे अंतर्मन में अनुभूत होने वाली प्रत्येक संवेदना को जानें और जानकर उसमें उलझें नहीं, यही धर्म-चक्र है। इसे ही प्रवर्तित रखें।

साधकों ! धर्म-चक्र-प्रवर्तित रखने में हमारा मंगल कल्याण है।

भवतु सब्ब मंगलं !

दुनिया में जब कोई व्यक्ति बुद्ध बनता है तो वह यथार्थ ज्ञान-दर्शन ही करता है। परमार्थ सत्य का स्वयं दर्शन करना ही सम्यक् सम्बोधि है। समस्त मिथ्या-दृष्टियों से, भ्रम-भ्रांतियों से, माया-मरीचिकाओं से, धोखे विपर्यास से बाहर निकल कर आर्यसत्यों का स्वयं साक्षात्कार कर लेना ही विमुक्ति है। जब कोई व्यक्ति इस प्रकार स्वयं आर्य-सत्यों का दर्शन करके औरों को भी उनका दर्शन कर सकने के लिए मार्ग-निर्देशन करता है तो इसी को धर्म-चक्र-प्रवर्तन करना कहते हैं।

यह आर्य-सत्य क्या है? आर्य-सत्य प्रकृति की वह सच्चाइयां हैं जिन्हें कि हम अन्तर्मुखी होकर, स्वानुभूतियों के बल पर, स्वयं देख-समझ लेते हैं और आर्य बन जाते हैं, यानी पवित्र बन जाते हैं, निर्मलहृदय बन जाते हैं। आओ, देखें वह कौन सी सच्चाइयां हैं जो कि हमें मिथ्या भ्रांतियों से दूर करती हैं और आर्य बनने में सहायक होती है? वह हैं जीवन और जगत की ठोस सच्चाइयाँ, यथार्थ सच्चाइयां, थोथी कपोल-कल्पानाओं से परे, निकम्मी निस्सार अटकलपच्चियों से दूर। यह सच्चाइयां चार प्रकार की होती हैं।

हम भली-भांति जान लेते हैं कि (१) यह दुःख है, (२) यह दुःख का

मूलभूत कारण है, (३) यह दुःख का निवारण है, (४) यह दुःख-निवारण का तरीका है।

अन्य शब्दों में कहें तो हम भली-भांति जान लेते हैं कि यह हमारा रोग है, यह रोग का निदान है, यह रोग का निवारण है और यह है निवारण की दवा; यह मैल है, यह मैल का चिपकना है, यह मैल का छूटना है और यह मैल छुड़ाने की साबुन ; यह आग है, यह आग का जलावन है, यह आग का बुझना है और यह है आग बुझानेवाला जल; और यह भय है, और यह भय का कारण है, और यह निर्भयता है और यह है उसका उपाय ; यह विष-वृक्ष है, यह वृक्ष-मूल है, यह मूलोच्छेदन है और यह है कुल्हाड़ी; यह दुर्भिक्ष है, यह दुर्वृष्टि है, यह सुभिक्ष है और यह है सुवृष्टि; यह उरला तीर है, यह बीच की नदिया है, यह परला तीर है और यह है पार होने की नौका ; यह कुफल है, यह कुबीज है, यह सुफल है और यह है सुबीज ; यह दुर्गति है, यह दुर्मार्ग है, यह सद्‌गति है और यह है सन्मार्ग ; यह लोक-चक्र है ; यह लोक-चक्र की गति है, यह उस गति का निरोध है और यह है गति-निरोध कर देने वाला धर्म-चक्र।

वस्तुतः लोक-चक्र ही दुःख है, रोग है, बंधन है, मैल है, आग है, भय है, दुष्फल है, दुर्गति है और धर्म-चक्र ही सुख है, स्वस्थता है, शांति है, मुक्ति है, निर्मलता है, योगक्षेम है, सुफल है, सुगति है। चारों आर्य-सत्यों को देख समझ लेना धर्म-चक्र है और न देखना-समझना लोक-चक्र।

साधारणतया हम दुःख के सत्य स्वरूप को नहीं देख समझ पाते। इसीसे उसमें उलझे रहते हैं ; लोक-चक्र में पिसते रहते हैं। जीवन के मोटे-मोटे दुःख तो हम खूब समझ लेते हैं। परन्तु सांसारिक सुखों में छिपे हुए सूक्ष्म परन्तु तीव्र दुःखों को हम कहां समझ पाते हैं? छोटे-बड़े ऐन्द्रिय सुख हमें इस कदर लुब्ध रखते हैं कि इनमें भी कोई दुख समाया हुआ है, यह बात हमारी समझ में ही नहीं आती। यदा-कदा आने वाले इन भौतिक सुखों की वजह से हमारे भीतर जो उत्तेजनाएं उमड़ती रहती हैं और

दूसरा मंगलकारी सत्य उस दुख के असली कारण ... ...
लेना है। वैयक्तिक, पारिवारिक, सामाजिक और राजनैतिक जीवन की विभिन्न अवांछित घटनाएं, परिस्थितियां हमें दुखी बनाती रहती हैं, यह सच है। परन्तु यह ऊपरी-ऊपरी सच है। इससे गहरा सच यह है कि भीतर ही भीतर अनजाने हमने अपने मन को एक ऐसे स्वभाव-शिकंजे में जकड़ लिया है जिससे कि वह अप्राप्य को प्राप्त करने के लिए सदा लालायित ही रहता है, उतप्त ही रहता है। जो कुछ है उससे इसे संतुष्टि नहीं, तृप्ति नहीं। जो नहीं है उसके लिए छटपटाहट है। अतृप्ति और असंतुष्टि की यह छटपटाहट ही तो दुःख है। यह जान लेने पर यह भी स्पष्ट समझ में आ जाता है कि सदा सतृष्ण रहने वाला हमारा यह आंतरिक स्वभाव ही इसका मूल कारण है। इच्छा की पूर्ति हो जाने पर भी तृष्णा तो बनी ही रहती है। एक इच्छा पूरी हुई कि दूसरी के प्रति तृष्णा जागी। जब तक तृष्णा बनी रहती है तथा उस तृष्णा के प्रति गहरी आसक्ति बनी रहती है तब तक दुःख बना ही रहता है।

दुःखों के मूलभूत सही कारण को नहीं जानने की वजह से ही दुःख-विमुक्ति के सारे उपक्रम व्यर्थ साबित होते हैं। बल्कि और भी उलझाने वाले साबित होते हैं। ऐन्द्रिय सुखों के अभाव को ही दुःख का कारण मान कर उनके पीछे पागलो की तरह दौंड़ लगाने वाला व्यक्ति अधिक दुःखों में ही उलझता है। किसी सर्वशक्तिमान अदृश्य प्राणी को दुःखों का कारण मान कर उसे खुश करने के चक्कर में पड़ने वाला व्यक्ति दुःखों में अधिक

उलझता ही है। अतः दुःख के सही कारण को जान लेना ही वास्तविक मंगलमयी सच्चाई है।

यह दुःख है, यह दुःख का कारण है। इन दोनों सच्चाइयों को जान लेना नितांत आवश्यक है। परन्तु इतना जानकर यदि हम हताश हो बैठें कि यह तो दुनिया का स्वभाव है, यह दुःख-चक्र तो सदा चलता ही रहेगा, इसके बाहर कोई निकल नहीं सकता तो इस निराशा के कारण सचमुच दुख-चक्र में पड़े ही रह जायेंगे। धर्म-चक्र और दुःख के सही कारण को जानकर उसके निवारण के प्रति आस्था पैदा करता है। जिसका कोई कारण है, उसका निवारण भी है ही। कारण के दूर होते ही परिणाम अपने आप दूर हो जायेगा। आशाओं से परिपूर्ण यह तीसरी मंगलमयी सच्चाई है।

कारण के निवारण से दुख दूर होगा, यह सच्चाई जान लेने के बाद उस निवारण का सही उपाय पकड़ में आ जाय तो चौथी मंगलकारी सच्चाई पकड़ में आ जाय। तीसरी सच्चाई ने जो आशा उत्पन्न की थी उसे क्रियान्वित करने की विधि पकड़ में आ जाय। क्या है यह विधि ? यह विधि है-शील, समाधि और प्रज्ञा। याने काया और वाणी के दुराचार से बचना, चित्त को वश में रखना और चित्त पर छाए हुए समस्त दूषित विकारों को दूर कर उसे मैत्री, करुणा आदि सद्‌गुणों से भरना। दुःख-निरोध का यही सही उपाय है। और हमारे समस्त रोगों की यही रामबाण औषधि है। यही वह मार्ग है जिस पर चलकर हम अपने भीतर समाए हुए समस्त दुखों की जननी स्वरूपा इस तृष्णाजन्य आसक्ति को समूल नष्ट करने में सर्वथा समर्थ होते हैं। यह मंगलकारी चौथी सच्चाई है।

इन चारों मंगलकारी आर्य सच्चाइयों को जान लेना, चिंतन, मनन द्वारा भली-भांति समझ लेना अच्छा है। क्योंकि जानना समझना ही तो पहला कदम है। परन्तु यदि इस बौद्धिक स्तर पर जानने समझने को ही

जानकर उसे जड़ से उखाड़ फेंकना ही धर्म-चक्र है। दुख-निरोध की सच्चाई को जान कर यथार्थतः उस स्थिति को प्राप्त कर लेना ही धर्म-चक्र है। दुःख-निरोध के लिए शील, समाधि और प्रज्ञा की सरल विधि को जानकर उसका पूरी तरह अभ्यास कर लेना ही धर्म-चक्र है। यही मंगल-मूल है। यह न हो तो हम लोक-चक्र ही लोक-चक्र में उलझे रह जायेंगे। दुःख-चक्र ही दुःख-चक्र में पिसते रह जायेंगे। हमारा सौभाग्य है कि हमें यह कल्याणकारी विधि उपलब्ध हुई है। हम इसके अभ्यास द्वारा लोक-चक्र के दुखों से बाहर निकलें और धर्म-चक्र पर स्थापित होकर अपना कल्याण साधें, अपना मंगल साधें।

मंगल हो !

आओ मानव मानवी, धर्म–चक्र अपनायँ ।
जिससे सारी गंदगी, मन पर की कट जाय ॥

शोक-तप्त व्याकुल रहे, मूरख मूढ़ अजान ।
लोक-चक्र उलझे नहीं, पंडित धीर सुजान ॥

हर हरकत की मूल में, कारण सच्चा देख ।
बिन कारण संसार में, पत्ता हिले न एक ॥

जो चाहे सुख ना घटे, होय दुखों का नाश ।
दासी बन तृष्णा रहे, बन मत तृष्णा-दास ॥

नन्ही सी तृष्णा जगी, बनी गहन आसक्ति ।
जब तक मन आसक्त है, कहां दुखों से मुक्ति ?

समझ लिया निज रोग को, समझा रोग-निदान ।
पर कैसे औषध बिना ? मिटे रोग नादान !

चित्त-मैल त्यागे नहीं, करे ईश की आश ।
यही मोह, यह मूढ़ता, यह बंधन, यह पाश ॥

निज करनी सुधरी नहीं, करी पराई आश ।
धर्म-चक्र छूटा, बंधा लोक-चक्र के पाश ॥

जैसा तेरा आचरण, फल वैसा ही होय ।
दुराचरण दुख ही बढ़े, सदाचरण सुख होय ॥

सुख-दुख अपने कर्म के, अविचल विश्व विधान ।
तू तेरा यमराज है, तू तारक भगवान ॥

धरम जगे तो सुख जगे, दुःख उखड़ता जाय ।
तृष्णा की तड़पन मिटे, तृप्ति-सुधा-रस पाय ॥

कुदरत का कानून है, इससे बचा न कोय ।
मैले मन दुखिया रहे, निर्मल सुखिया होय ॥

सागर तल पर्वत गुहा, अंतरिक्ष का छोर ।
पाप फलों से बच सके, ऐसा दिखे न ठौर ॥

राग जगे रोगी बने, द्वेष जगे दुख होय ।
हो इस कुल, उस गोत्र का, अन्तर पड़े न कोय ॥

मन के मैल उतार ले, जो चाहे सुख चैन ।
मैले मन दुखिया रहे, बौद्ध होय या जैन ॥

रोग सांचलो जाणगो, जाण्यो रोग-निदान ।
रोग निवारण कर लियो, कर उपचार सुजान ॥

दुख कारण समक्ष्यो नहीं, बढ़गो दुक्ख अनन्त ।
ज्यूं ही कारण समझियो, कर्‌यो निवारण सन्त ॥

कारण सूं चिपक्यो र वै, चावै दुक्ख न होय ।
डुबकी मारै कीच महँ, तन उजलो किमि होय ?

समझ दुखां रै मूळ नै, खोय सकै तो खोय ।
रोयां धोयां बाबळा ! दुक्ख दूर ना होय ॥

मन की मिटी न वासना, मन का मिट्‌या न खोड़ ।
कुण बिरमाजी तारसी? झूठी आसा छोड़ ॥

मन की मिटज्या वासना, मन का मिटज्या खोड़ ।
तो तर ज्यावै आप ही, आस परायी छोड़ ॥

अपणो बल भूल्यो र यो, पड्यो परायी आस ।
धर्म-चक्र जाग्यो इसो, जग्यो आत्म-विस्वास ॥

लोक-चक्र नै त्याग दे, धर्म-चक्र ले धार ।
लोक-चक्र रै कारणै, भोगै दुक्ख अपार ॥

अपणै अपणै करम क'. आपां ही करता· '
अपणै सुख का दुक्ख का, आपां सिरजनहा·

दुस्करमां रो फल पकै, सोनो माटी हो· '
सतकरमां रो फल पकै, कांकर हीरा हो·· :

अवचल विस्व बिधान है, अठै नहीं अंधेर ।
मीठो कड़वो करम-फल, पकसी देर सवेर ॥

करम हि म्हारी मांवड़ी, करम हि म्हारो बाप ।
अपणै अपणै करम सूं, जनमूं आपूं आप ॥

पाक्यो फोड़ो पाप को, पूरी हुइग्यी म्याद ।
तड़पन लाग्यो जीवड़ो, रिस रिस बवै मवाद ॥

करमां सूं ठाकर हुवै, करमां चाकर दीन ।
तीन लोक चौदह भुवन, करमां रै आधीन ॥

दुस्करमां रो फल बुरो, सुफल सुकरमां होय ।
जिसो बीज है करम को, बिसो करम-फल होय ॥

जाति से ऊंच-नीच नहीं

प्यारे साधक साधिकाओ !

देखो ! सत्य-धर्म का उजाला फैलने लगा है। पाप का अंधकार खत्म होने का समय समीप आ रहा है। आओ ! इस मंगलमय धर्मबेला का लाभ उठाएँ और अपने अन्तर को धर्म के प्रकाश से जगमगा लें। अपने भीतर भरा हुआ सारा अंधेरा, सारा कल्मष दूर कर लें।

हमारे अन्तर्मन की अतल गहराइयों में जो राग समाया हुआ है, द्वेष समाया हुआ है, मोह-मूढ़ता समाई हुई है, उसे दूर करें। राग, द्वेष और मोह ही तो पाप का अंधकार है। इसे हटाना ही धर्म का प्रकाश है। हमारा बड़ा पुण्य है कि हमें ऐसा सहज सरल मार्ग मिला, जिससे कि हम अपने अन्तर्मन को धोकर सत्य-धर्म की पवित्रता धारण कर सकें। आओ ! इस अवसर का पूरा-पूरा लाभ उठाएं।

इस मार्ग पर चलने के लिए यह कदापि अनिवार्य नहीं है कि हम अपने आपको बौद्ध कहने लगें। हम अपने आपको बौद्ध कहें या न कहें, परन्तु यदि हम उस महाकारुणिक भगवान तथागत के बताए हुए सहज सरल तरीके को अपनाकर अपने भीतर का राग, द्वेष और मोह का कल्मष दूर करलें, तो निश्चय ही इसमें हमारा लाभ है, इसमें हमारा हित-सुख है। फिर हम अपने आपको चाहे जिस नाम से पुकारें, हम कल्याणकारी मार्ग के सच्चे अनुयायी हैं ही; हम दुःख-निरोधगामिनी प्रतिपदा के सच्चे पथिक हैं ही; सभी दुखों से छुटकारा पाने के सच्चे अधिकारी हैं ही।

सच्चे धर्म के अभाव में ही हम ऊँच-नीच की दीवारें बनाकर मनुष्य-मनुष्य में विभाजन पैदा कर लेते हैं। सच्चा धर्म इन दीवारों को तोड़ता है, हर प्रकार के विभाजन को मिटाता है, एकता के धरातल पर

शील, समाधि और प्रज्ञा में पूर्णतया प्रतिष्ठापित हो जानेवाला व्यक्ति स्वभावतः मैत्री और करुणा के ब्राह्मी गुणों से परिप्लावित हो उठता है। उसके मन में द्वेष और दौर्मनस्य, अहंकार और घृणा, भय और कायरता रह ही नहीं सकती। न वह जाति, वर्ण, कुल और धन के गर्व में अहम्भावना का शिकार होता है और न ही इनके अभाव में हीन-भावना का। कोई व्यक्ति किसी भी जाति, कुल, वर्ण या सम्प्रदाय में जन्मा हो, धनवान हो या निर्धन हो, विद्वान हो या अनपढ़ हो, यदि वह शील, समाधि और प्रज्ञा में प्रतिष्ठित है तो निश्चय ही वह पूर्ण मानव है, अतः महान है।

तो आओ! मानवता के इस सही माप-दण्ड से अपने आप को मापते रहने का अभ्यास बढ़ाएँ और जब कभी अपनी शील, समाधि और प्रज्ञा में जरा भी कमी देखें तो उसकी पुष्टि के प्रयत्न में लग जाँय और इस प्रकार अपना सच्चा कल्याण साधें।

मंगल हो!

बुद्ध-जयंती

वैशाख पूर्णिमा ! भगवान गौतम बुद्धकी त्रिविध जयन्तीका पावन दिवस ! जन्म-जयन्ती, बोधि-जयन्ती, परिनिर्वाण-जयन्ती ! जयन्ती माने विजय ! विजय वस्तुतः बोधि की ही है। बोधि-जयन्ती में ही जन्म-जयन्ती और परिनिर्वाण-जयन्ती का मूल समाया हुआ है ।

सम्यक् सम्बोधि जागी तो ही मार पर विजय प्राप्त हुई। पाप पर, अधर्म पर, समस्त बंधनों पर विजय प्राप्त हुई। ऐसी विजय जिसने जन्म और मृत्यु की जयन्तियों को सफल सार्थक बना दिया। सम्यक् सम्बोधि के कारण ही जन्म अंतिम जन्म बन गया, मृत्यु अंतिम मृत्यु बन गयी। **"अयं अन्तिमा जाति नत्थिदानि पुनब्भवोति"** यह अंतिम जन्म है। अब पुनर्जन्म नहीं होगा। पुनर्जन्म नहीं होगा तो पुनर्मृत्यु भी नहीं होगी। जन्म और मृत्यु दोनों पर सहज ही विजय प्राप्त हो गयी ।

इस महापुरुषकी यह महान विजय अन्य अनेकों की विजय का कारण बन गयी । अनेकों के मंगल-कल्याण और स्वस्ति-मुक्ति का साधन बन गयी। अनेक कष्टों से गुज़रते हुए इस महामानवने भारत की खोई हुई मुक्तिदायिनी धर्मगंगा पुनः खोज निकाली। उससे केवल अपनी ही मुक्ति नहीं साधी, बल्कि अनेकों के लिए मुक्ति सुलभ कर दी। अत्यंत करुणाविगलित हृदय से जीवन भर जन-जनको यह विद्या बांटते रहे। जन-जनके लिए अमृत का द्वार खोलते रहे। इस प्रकार लगभग २५०० वर्ष पूर्व जो धर्म-गंगा फूट पड़ी वह पीढ़ी-दर-पीढ़ी कोटि-कोटि लोगों का कल्याण करती हुई कहीं न कहीं परम परिशुद्ध रूप में प्रवाहमान बनी ही रही । समय पाकर कहीं विलुप्त भी हुई, कहीं नासमझ लोगों द्वारा सम्मिश्रण के दोष से दूषित होकर विकृत भी हुई। परन्तु एक क्षीण धारा इतनी सदियों तक भी अपने शुद्ध रूप में कायम रही। कायम रही तो

अन्यथा जैसे ही श्रद्धा अंधश्रद्धा बन जाती है, कृतज्ञता अंधकृतज्ञता बन जाती है; धर्म क्षीण होने लगता है, संप्रदाय बलवान बनने लगता है। संप्रदाय बलवान बनता है तो भोला मानव धर्म को भी संप्रदाय के रंगीन चश्मे से ही देखता है। धर्म का यथाभूत शुद्ध स्वरूप देख ही नहीं पाता। संप्रदाय बलवान बन जाता है तो बिना ही प्रत्यक्षानुभूति के कोई न कोई दार्शनिक मान्यता भूत की तरह सिर पर सवार कर लेता है। धर्म को उस मान्यता के रंगीन चश्मेसे ही देखता है। धर्म का यथाभूत शुद्ध स्वरूप देख ही नहीं पाता। संप्रदाय बलवान हो जाता है तो निर्जीव कर्मकांड प्रधान हो जाते हैं, थोथी रूढ़ियाँ प्रधान हो जाती हैं। धर्म धारण करना गौण हो जाता है।

इसीलिए साधको ! आओ, आज के इस पावन दिवस पर एक ओर श्रद्धा और कृतज्ञता को बलवान बनाएँ जिससे कि धर्म हरा-भरा बना रहे, दूसरी ओर विवेक जगाए रखें ! श्रद्धा और कृतज्ञता को अंधी न बनने दें जिससे कि धर्म सांप्रदायिकता के दलदल में फंसकर डूब न जाय। श्रद्धा

और कृतज्ञता को निर्मल बनाए रखें, जिससे बोधि पुष्ट हो, अज्ञान क्षीण हो ! विद्या का प्रकाश प्रज्वलित हो! अविद्याका अंधकार क्षीण हो! इसी में हमारा सच्चा मंगल, सच्चा कल्याण, सच्ची स्वस्ति-मुक्ति समायी हुयी है।

मंगल हो !

याद करूँ जब बुद्ध की, करुणा अमित अपा
तन मन पुलकित हो उठे, चित छाए आभा

यही बुद्ध की वन्दना, यही बुद्ध- सम्मा
बोधि जगाऊँ चित्त में, करूँ दूर अज्ञान

शुद्ध बोधि का चित्त में, अंश मात्र जग जाय ।
तो अंतस कालख धुले, मन उजला हो जाय ॥

श्रद्धा जागी बुद्ध पर, चलूँ बोधि के पंथ ।
बोधि जगाऊँ स्वयं की, मंगल मिले अनंत ॥

श्रद्धा जागी धर्म पर, चलूँ धर्म के पंथ ।
सब पापों का हनन कर, बनूँ स्वयं अरिहंत ॥

श्रद्धा जागी संत पर, बढूँ शांति के पथ ।
शांति समाए चित्त में, होय दुखों का अंत ॥

धरम स्वाद चाख्यो नहीं, सरधा जगी न लेस ।
कोरै बुद्धि-बिलास सूं, मन का कटै न क्लेस ॥

बिन सरधा भगती बिना, लूखो सूखो ग्यान ।
बिना ग्यान बोधी बिना, भगति निपट निस्प्रान ॥

जागै सरधा बलवती, साथै जगै विवेक ।
सरधा और विवेक सूं, मंगल जगै अनेक ॥

बियाबान बन भटकतां, मिलग्यो भूल्यो पंथ ।
भवभय सगळा मिट गया, धन्य धरम गुणवंत ॥

पुन्न उदय ऐसो हुयो, हुयो समागम संत ।
बंधन कटग्या पाप का, हुयो दुखां को अंत ॥

धरम मिल्यो निरमल हुयो, जीवन, तन, मन, प्राण ।
चित छायी किरतग्यता. चित छायो अहसान ॥

बोधि-दिवस

मेरे प्यारे साधक/साधिकाओ,

आओ, बोधि जगाएं !

आज बोधि-दिवस है । इस पुनीत पर्व के दिन . . . . . . बोधि जगाने की पावन प्रेरणा मिले ।

जितनी-जितनी बोधि जागती है, उतनी-उतनी दुष्प्रज्ञता दूर होती है । भ्रम-भ्रांति मिटती है । कल्पनाओं से मुक्ति मिलती है । यथार्थ को स्वीकारने का साहस बढ़ता है । तथ्यता को अंगीकार करने का बल मिलता है । सच्चाई का यथाभूत ज्ञान-दर्शन करने की क्षमता बढ़ती है ।

साधको ! सतत् सजग रहें । धर्म के नाम पर कहीं कोई छलना हमा सिर पर सवार न हो जाय । विपश्यी साधक होने के नाते हम पूर्णतय धर्मनिष्ठ हो गए हैं, ऐसी मिथ्या धारणा न करने लगें, वरना अहंभाव क ग्रंथि में बुरी तरह जकड़ जायेंगे । जरा-सी भूल होते ही कहीं महापति होने का मिथ्या विनीतभाव न जगाने लगें, वरना हीन-भाव की ग्रंथि बुरी तरह जकड़ जायेंगे । अहं और हीन दोनों ग्रंथियों से बचते हु वास्तविकता के मध्यम मार्ग पर चलना है ।

अपने में जो सद्गुण हैं, उन्हें सद्गुण मानें । पर उनकी वजह से कर्ह गर्वित होकर फूल न उठें । विवेक कायम रहे और समझदारीपूर्वक उ सद्गुणों का न केवल संरक्षण करें, बल्कि संवर्धन करें ।

इसी प्रकार अपने में जो दुर्गुण हैं उन्हें भी स्वीकारें । न उनकी वज से निराशा और मायूसी का माहौल पैदा कर लें और न ही उन्हें छिपाक अपने आप को तथा औरों को धोखा देने की कोशिश करें । यथास्थिति क स्वीकारते हुए विपश्यना साधना द्वारा उन्हें साक्षीभाव से देख-देख क

शनैः शनैः दूर करें ।

जब कोई व्यक्ति मेरे साथ ऐसा व्यवहार करता है जो कि मुझे अनुचित लगता है, अन्याय व अनीतिपूर्ण लगता है तो उसे अपने प्रति दुर्व्यवहार मानकर मैं जब-जब अंध-प्रतिक्रिया करता हुआ भावावेश का शिकार हो जाता हूं तब-तब द्वेष-दौर्मनस्य के गर्द-गुब्बार से भर उठता हूँ। इस सच्चाई को स्वयं अपने आप भी और दूसरों के सम्मुख भी स्वीकार करने में मुझे जरा भी हिचक नहीं । स्वीकार करके मैं अपने मन का बोझ हल्का ही करता हूँ । जब अपने तथा औरों के प्रति इस प्रकार सच्चाई का बर्ताव करता हूँ तो इन दुर्गुणों से छुटकारा पाने का रास्ता खुल जाता है। परंतु सच्चाई से मुंह मोड़ता हूँ और इसे मिथ्या प्रतिष्ठा का विषय बना लेता हूँ तो अपने दुर्गुण छिपाता हूँ। शुतुर्मुर्ग की तरह अपने आपको धोखा देता हूं। हंस की चाल चलने वाले बगुले की तरह औरों को धोखा देता हूं। इस पागलपन में अपने दुर्गुणों का पोषण करता हूं । उनका संवर्धन करता हूं ।

अंध-प्रतिक्रिया कर लेने के बाद मैं बहुत शीघ्र ही भावावेश से मुक्त हो जाता हूं । जिस व्यक्ति के प्रति द्वेष-दुर्भाव जगाया था, उसी के प्रति मंगल मैत्री लहराने लगती है। यह सद्गुण है, इसे स्वीकारने में मुझे जरा भी संकोच नहीं । गर्व गुमान भी नहीं ।

यह यथाभूत ज्ञान-दर्शन है। इस यथाभूत ज्ञानदर्शन से दुर्गुण स्वतः दूर होते हैं, सद्गुण स्वतः बढ़ते हैं। यथाभूत याने जैसा है, वैसे ही। बढ़ा-चढ़ाकर भी नहीं, घटा-मिटाकर भी नहीं। न अतिमूल्यन, न अवमूल्यन, बल्कि यथार्थ मूल्यन ।

अपने दुर्गुणों की अतिरंजित व्याख्या करेंगे तो अहंकार का प्रजनन करेंगे । उनका अवमूल्यन करेंगे तो फिर अति विनीत बनने का दंभ भरने लगेंगे और इस प्रकार एक नया दुर्गुण प्रजनन करने ?

अन्यायी पर क्रुद्ध हो, दिया घोर अभिशाप ।
हार हो गयी धरम की, हुआ विजेता पाप ॥

क्या देखे पर दोष को ? देख स्वयं के दोष ।
दोषी चित व्याकुल रहे, सुखी रहे निर्दोष ॥

देखें अपने चित्त को, देखें चित के दोष ।
दोष देखते देखते, चित्त बने निर्दोष ॥

प्रकट करे जो सरल हो, अपने मन के पाप ।
ग्रंथि निबंधन से बचे, छुटे दुःख संताप ॥

अपने मन के दोष को, करूं आज स्वीकार ।
उतरे अपने दोष का, जरा जरा तो भार ॥

बोझ हटे जब पाप का, पुलकित होय शरीर ।
लगे छलकने चित्त में, मंगल मैत्री नीर ॥

अपणी स्तुति करतो हुयो, थकै नहीं नादान
देख पराए दोस नै, बढ़ चढ़ करै बखान

निज मन मैलो ही करै, देख पराया पाप
बढ़ै आपणै मैल सूं, अपणो ही संताप

अपणै मन का छदम छल, अपणै ही सिर भार ।
अपणै मन की सरलता, अपणो ही सुख सार

अपणो भलो न कर सक्यो, देख पराया दोस ।
होस जग्यो सुधरण लग्यो, जद देख्या निज दोस ॥

प्रकट करै निज दोस नै, मन हलको ही होय ।
दोस बढण पावै नहीं, सहज सरल चित होय ॥

मणां पाप ज्यूं उतर कर, पुलकित हुवै सरीर ।
हलको हुइज्या फूल सो, मिटज्या सारी पीर ॥

धर्म-चक्र

आज धर्म-चक्र-प्रवर्तन दिवस है। आज ही के दिन विपश्यना मार्ग के आदि प्रवर्तक भगवान बुद्ध ने धर्म-चक्र का प्रवर्तन किया था। सम्यक्-संबोधि प्राप्त करने के बाद यह उनका पहला धर्म उपदेश था। धर्म के नाम पर भांति-भांति के बहकावों में भटकती हुई जनता को इस बोधिप्राप्त महापुरुष ने सत्य-धर्म का प्रकाश दिया मानो लोक-चक्र में उलझी हुई जनता के बीच धर्म का चक्र चलाया। इसीलिए यह उपदेश धर्म-चक्र-प्रवर्तन कहलाया। उन्होंने शील, समाधि और प्रज्ञामय शुद्ध धर्म का ही सत्य-स्वरूप प्रकाशित किया।

जब हम अंध-विश्वासों में डूब जाते हैं, तो ऐसी बातों को धर्म समझने लगते हैं, जिनका कि धर्म से काई लेन-देन नहीं होता। धर्म का सत्य-स्वरूप हमारी आंखों से दूर हो जाता है। सत्य का सार हाथ नहीं लगता तो हम ऊपर के छिलकों को ही सार समझकर उन्हें ही महत्त्व देने लगते हैं। इन छिलकों से ही चिपक कर, इनमें ही उलझे रहकर, हम अपने आपको धर्मवान मानने की भूल करते रहते हैं जबकि हममें न शील होती है, न चित एकाग्र करने वाली समाधि होती है और न ही चित्तविशोधिनी प्रज्ञा होती है। अज्ञान अवस्था में धर्म के नाम पर चलने वाले इस लोक-चक्र में हम पिसते चले जाते हैं। बुद्ध जैसा कोई महापुरुष ही हमें इस दुःखरूपी लोक-चक्र से बाहर निकलने की राह सुझाता है।

भगवान गौतम बुद्ध की यही सम्यक्-संबोधि थी कि उन्होंने दुख की सच्चाई को जाना, उसके कारण की सच्चाई को जाना, उसके निवारण की सच्चाई को जाना और उस निवारण के मार्ग की सच्चाई को जाना। इन चारों आर्य-सत्यों को केवल जाना ही नहीं वल्कि उनका भली-भांति चिंतन-मनन भी किया। और केवल चिंतन-मनन करके ही नहीं रह गए,

तो वह जानना-समझना व्यर्थ हो गया। तब तो वह कोरा [illegible] हुआ, कोरी दिमागी कसरत हुई। और यही तो हम करते रहते हैं। धार्मिक और दार्शनिक सिद्धान्तों के ऊहापोह में, वाद-विवाद में, चर्चा-परिचर्चा में, बहस-मुबाहसे में, खंडन-मंडन में, तर्क-वितर्क में, व्यंजना-विश्लेषण में, समझने-समझाने में, सुनने-सुनाने में, पढ़ने-पढ़ाने में, लिखने-लिखाने में और बोलने-बतलाने में ही हम अपना सारा जीवन बिता देते हैं और दुर्भाग्य यह है कि इसी में अपने जीवन की सफलता भी मान बैठते हैं। अजीब संतोष होता है हमें अपनी धर्म जिज्ञासा पूरी कर लेने में तथा बौद्धिक स्तर पर जाने हुए उस ज्ञान को किसी लच्छेदार भाषा में व्यक्त कर सकने की क्षमता प्राप्त कर लेने में। इस आत्म-संतुष्टि को ही हमने जीवन का अंतिम लक्ष्य मान लिया है। सचमुच कैसा सुनहला मृग-जाल है यह, जिसमें कि हम इतनी आसानी से फंस जाते हैं और फिर इन बंधनों को ही आभूषण मानकर गर्व भी अनुभव करने लगते हैं।

धर्म के रहस्य को जानना बंधन नहीं है, उसे भली-भांति समझना भी बंधन नहीं है, परन्तु इतने से ही संतोष मान लेना एक ऐसा बंधन है,

जिससे छुटकारा पाना बड़ा कठिन है। इसलिए भगवान ने अपने इस प्रथम धर्म-उपदेश में इस बात पर बल देते हुए कहा, "मैंने केवल धर्म के सार को जाना और समझा ही नहीं है, बल्कि उसके क्रियात्मक स्वरूप का व्यावहारिक अभ्यास करके स्वयं निर्वाण-रस को चखा और दुःखों से नितांत विमुक्ति पायी है। इन चारों आर्य-सत्यों को इस प्रकार तिहरे रूप में—याने **जानने, समझने** और **कर लेने** के पश्चात् ही, इन चारों आर्य-सत्यों का बारह प्रकार से यथाभूत ज्ञान-दर्शन कर पूर्णतया विशुद्ध हो जाने के पश्चात् ही, मैंने इस बात की घोषणा की है कि मैं सम्यक्-संबुद्ध हो गया हूँ। मैंने अनुपम, अनुत्तर सम्यक्-संबोधि प्राप्त कर ली है।"

धर्म-चक्र-प्रवर्तन सूत्र का यही गूढ़ रहस्य है कि हम परम सत्यों को केवल बौद्धिक स्तर पर जानकर और समझकर ही संतोष न मान लें, प्रत्युत चित्त-शोधन करनेवाली भावनामयी प्रज्ञा द्वारा व्यावहरिक स्तर पर उनका यथार्थ स्वानुभव कर प्रत्यक्ष लाभ हासिल करें। क्या है यह भावनामयी प्रज्ञा ?

प्रज्ञा तीन प्रकार की होती है। पहली है श्रुतमयी प्रज्ञा—याने वह जो कि हमें सुनने या पढ़ने से प्राप्त हुई हो। दूसरी है चिंतनमयी प्रज्ञा-याने वह जो कि चिंतन-मनन द्वारा पुष्ट हुई हो और तीसरी है भावनामयी प्रज्ञा-याने वह जो कि अपने ही अनुभव, अभ्यास और यथाभूत दर्शन द्वारा उपलब्ध हो कर संवर्धित हुई हो। यह सत्य है कि प्रथम दोनों प्रकार की प्रज्ञाएं निरर्थक नहीं हैं। बिना किसी ज्ञान को भली-भांति जाने समझे हुए हम उसका अभ्यास कैसे कर सकेंगे ? परन्तु वास्तविक कल्याण तो इस तीसरी प्रज्ञा से ही हो सकता है जो कि वस्तुः हमारे मन में समाए हुए राग, द्वेष, मोह, मात्सर्य, ईर्ष्या, अहंकार, भय, उद्विग्नता आदि गन्दगियों को दूर करके चित्त को विशुद्ध करती हुई दुःख-निरोधक स्थिति का साक्षात्कार करवाती है। धर्म का यह व्यावहारिक पक्ष ही सही माने में कल्याणकारी है। इसे हासिल किये बिना दुःख से विमुक्ति नहीं, दुःख से छुटकारा नहीं।

आखिर क्या है यह प्रतिपत्ति धर्म ? यह जो आठ अंग वाला धर्म-पथ है, इसे ही भगवान ने दुःख-निरोधगामिनी-प्रतिपदा कहा है। इस प्रतिपदा पर चलना ही प्रतिपत्ति धर्म है। सम्मा दिट्ठि, सम्मा संकप्पो, सम्मा वाचा, सम्मा कम्मन्तो, सम्मा आजीवो, सम्मा वायामो, सम्मा सति और सम्मा समाधि वाला यह आर्य-आष्टांगिक मार्ग, प्रज्ञा, शील और समाधि के अंतर्गत पूरी तरह समा जाता है, जो कि केवल व्यावहारिक ही व्यावहारिक है। शील, समाधि और प्रज्ञा का स्वयं अभ्यास किये बिना हम इस पथ के पथिक कैसे बन सकते हैं ? इस कल्याणकारी दुख-निरोधी पथ की हम हजार व्याख्या कर लें, हजार वर्णन कर लें, इसे हजार जान लें, समझ लें, परन्तु स्वयं इस पर एक पग भी न चलें तो कैसे हमारी चित्त-विशुद्धि होगी ? कैसे हमारे दुखों का निरोध होगा ?

भगवान बुद्ध का एक विरुद है–"विज्जाचरण-सम्पन्नो" अर्थात वे केवल विद्या में ही सम्पन्न नहीं थे, बल्कि आचरण में भी सम्पन्न थे और यह आाचरण की ही सम्पन्नता थी, जिसने कि बोधिसत्व गौतम को सम्यक्-संबुद्ध बनाया। यह उनकी 'यथावादी तथाकारी' वाली विशेषता ही थी, जिसने कि उन्हें विश्व-वन्द्य तथागत बनाया। भगवान बुद्ध का

तो सारा जीवन ही व्यावहारिक जीवन था । उन्होंने इस मार्ग का पहले स्वयं अवलंबन किया और फिर इस पर ठीक तरह चल सकने के लिए लोगों को विपश्यना-साधना का यह सहज सरल तरीका सिखाया ।

विपश्यना मार्ग के उस प्रथम आचार्य की प्रथम धर्म-देशना की चर्चा करते हुए विगत २५०० वर्ष की उस सम्पूर्ण आचार्य-परंपरा की ओर हमारा ध्यान अपने आप खिंच जाता है, जिसने कि धर्म के इस व्यावहारिक पक्ष को अपने साधनामय जीवन द्वारा भावी पीढ़ियों के लिए जीवंत रखा । इस मंगलमयी परंपरा को अटूट बनाए रखने वाले आचार्यों की इस लंबी श्रृंखला में ही हमारे परमपूज्य गुरुदेव सयाजी ऊ बा खिन आते हैं, जो कि इस सक्रिय धर्म-साधना के एक जगमगाते हुए नक्षत्र थे । भगवान बुद्ध से लेकर सयाजी ऊ बा खिन तक की सारी गुरु-शिष्य परंपरा के प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञता और अभिवंदना प्रकट करते हुए हम उस शिष्य-परंपरा को स्वस्थ करें, जो कि उनके गौरव के अनुकूल हो । आज के इस पुण्य दिवस की सफलता इसी बात में है कि हम उस महाकारुणिक आदिगुरु भगवान बुद्ध के और इस युग के महान विपश्यना आचार्य सयाजी ऊ बा खिन के आदर्श शिष्य बनें और धर्म को अपने जीवन का अंग बनाएं, स्वभाव का अंग बनाएं । गुरु-पूर्णिमा पर गुरुजनों के प्रति यही सच्ची श्रद्धांजलि है, यही उनका सच्चा पूजन-वंदन है ।

धम्मानुधम्म पटिपत्तिया बुद्धं पूजेमि,
धम्मं पूजेमि, संघं पूजेमि ।

धर्मानुधर्म का प्रतिपादन करके ही हम बुद्ध की पूजा करें, धर्म की पूजा करें, संघ की पूजा करें !

मंगल हो !

धर्म देशना सहज है, बड़ा सरल व्यापा·
पर चलना तो कठिन है, ज्यों खांडे की धा·

धर्म-धर्म तो सब कहें, पर समझे ना कोय ।
निर्मल मन का आचरण, धर्म कहीजे सोय ॥

निर्मल-निर्मल सब कहें, पर समझे ना कोय ।
राग, द्वेष और मोह के, छूटे निर्मल होय ॥

सदा सोचिए धर्म ही, सदा बोलिए धर्म ।
हो शरीर से धर्म ही, यही मुक्ति का मर्म ॥

धर्म-विहारी है वही, शीलवन्त जो होय ।
काया वाणी चित्त के, शील न खण्डित होय ॥

बाहर-भीतर एक रस, सरल स्वच्छ व्यवहार ।
कथनी-करनी एक सी, यह ही धर्म-विहार ॥

काया ही मलता रहा, किया न चित्त सुधार ।
भूस फूस संग्रह किया, छुटा धर्म का सार ॥

रोग समझ पाया नहीं, समझा नहीं निदान ।
रोग भला कैसे मिटे, कैसे हो कल्याण ?

दुःख समझ पाया नहीं, समझा नहीं निदान ।
दुःख भला कैसे मिटे, कैसे हो कल्याण ?

यह तो वाणी बुद्ध की, शुद्ध धर्म की ज्योत ।
भरी भलाई जगत की, मंगल ओत-प्रोत ॥

बिन औषध सेवन किए, रोग दूर ना होय ।
बिना धर्म धारण किए, शोक दूर ना होय ॥

पग पग पग चलते हुए, होय दुखों के पार ।
पारायण ही धर्म है, विमल धर्म ले धार ॥

धर्म नहीं धारण करे, करे बात ही बात ।
दीप-शिखा कब की बुझी, रही अंधेरी रात ॥

शब्द बिचारा क्या करे ? अर्थ न समझे कोय ।
अर्थ बिचारा क्या करे ? धारण करे न कोय ॥

धर्म-कथिक बिन शील का, ज्यूं कागज का फूल ।
देखन में सुन्दर लगे, भ्रमर न आवे भूल ॥

धरम न हिन्दू बौद्ध है, धरम न मुसलिम [illegible]
धरम चित्त की सुद्धता, धरम सान्ति सुख [illegible]

करै वात तो धरम की, करम करै वि[illegible]
बै भोळा कद पावसी, परम सांति री [illegible]

बिन पोथ्यां सूं बुद्ध नै, मिल्यो धरम रो [illegible]
तूं पोथ्यां खोजत फिर्‌यो, भोळो घणो [illegible]

पाठ कर लियो धरम को, पाळ्यो ना मतिमंद ।
दियो जला रोसन कर्‌यो, आंख्यां राखी वंद ॥

धरम स्वाद चाख्यो नहीं, चरचा करै वखान ।
गिणै पराई गावड़्यां, ग्वालै जिसो अजान ॥

जाण्यो समझ्यो धरम नै, पर न कर्‌यो व्यवहार ।
तो बिरथां बोझां मर्‌यो, लियां परायो भार ॥

धारण कर्‌यां हि धरम है, नातर कोरी बात ।
सूरज उग्यां प्रभात है, नातर काली रात ॥

बातां ही बातां करै, धारण करै न कोय ।
धरम बापड़ो के करै ? सुख धार्‌यां ही होय ॥

पढ़तां लिखतां बोलतां, करतां बाद-बिबाद ।
मिनख जमारो खो दियो, चख्यो न धरम सुवाद ॥

धरम पंथ चालै नहीं, केवल बांचै ग्रन्थ ।
बैठ्यां मंजिल ना मिलै, पग बिन कटै न पंथ ॥

निज अवगुण सुधरै नहीं, पर उपदेसी होय ।
पग बळती देखै नहीं, डूंगर बळती जोय ॥

पढ़ियो पर गुणियो नहीं, बोलै ऊंचा बोल ।
भोळा ! तू भरमा गयो, यो तो बुद्धि-किलोल ॥

धरम कथा सुणता र या, बरसां बरस प्रमाण ।
सांच धरम तो पावसी, जाग्यां अपणो ग्यान ॥

मण मण की बातां करै, कण भर करै न काम ।
झूठो थूक बिलोवतां, बीतै संझा साम ॥

सिक्छा देणो सरल है, पालण करड़ो होय ।
सरल सरल तो सै करै, करड़ो करै न कोय ॥

गुरु-पूर्णिमा

आज आषाढ़ी पूर्णिमा है।

२५७० वर्ष पूर्व आज के ही दिन लोक-गुरु भगवान गौ[illegible] धर्म-चक्र-प्रवर्तन किया था। पाप-चक्र में पिसते, तड़पते प्रा[illegible] दुःखमुक्त होने का प्रथम धर्म उपदेश दिया। सारनाथ के [illegible] मृगदाय वन में ठहरे हुए अपने पांच तपस्वी साथियों को उन [illegible] आर्यसत्यों का साक्षात्कार कराया, जिनका कि गया प्रदेश के ब[illegible] तले दो मास पूर्व वैशाख-पूर्णिमा पर स्वयं साक्षात्कार कर सम्य[illegible] बने थे। आज के दिन उन्होंने जो धर्मचक्र प्रवर्तित किया वह जीवन भर अबाध गति से चलाते ही रहे और असीम करुण-चित्त से लाखों-करोड़ों भटके हुए दुखियारों को धर्म शासन में अनुशासित कर गलत से सही मार्ग की ओर उन्मुख और दुःख-विमुक्त करते रहे।

आज के इस पावन अवसर पर, आओ! उन महाकारुणिक भगवान गौतम बुद्ध के प्रति अपनी श्रद्धा और कृतज्ञता प्रकट करें। उनकी ही भांति जिन-जिन महापुरुषों को सम्यक्-संबोधि प्राप्त हुई उन सबने अत्यंत करुण-चित्त से लोक-कल्याण हित धर्मचक्र ही प्रवर्तित किया। अतः उन सभी बुद्धों के प्रति भी अपनी कृतज्ञता और श्रद्धा प्रकट करें।

शील, समाधि और प्रज्ञा रूपी सद्धर्म से इतने लोगों को लाभ मिला, हमें भी लाभ मिला, ऐसे सांप्रदायिकता-विहीन सद्धर्म के प्रति अपनी कृतज्ञता और श्रद्धा प्रकट करें।

ऐसे सद्धर्म के मार्ग पर आरूढ़ हो, शील, समाधि तथा प्रज्ञा में प्रतिष्ठित होकर कितने लोग निर्वाण-दर्शी हुए, मुक्ति के स्रोत में पड़े, आर्य हुए, विमुक्त हुए और हमारे लिए प्रेरणा के कारण बने। ऐसे सभी आर्यसंघ के प्रति कृतज्ञता और श्रद्धा प्रकट करें।

पिछली पच्चीस शताब्दियों से जिस आचार्य परंपरा ने और इस परंपरा के पिछले ज्वाज्वल्यमान नक्षत्र बोधिसत्त्व सयाजी ऊ बा खिन ने अत्यंत निष्ठापूर्वक धर्म के व्यावहारिक पक्ष को, विपश्यना साधना को, अपने शुद्ध रूप में सुरक्षित रखकर हमारा असीम कल्याण किया, उनके प्रति भी अपनी कृतज्ञता और श्रद्धा प्रकट करें।

आज का दिन आर्य-सत्यों के उद्घाटन का दिन है। सत्य की महत्ता का दिन है। सत्य धारण करने का दिन है। अतः इस कृतज्ञता और श्रद्धा-ज्ञापन के साथ साथ सच्चाई और ईमानदारी के साथ हम अपने-अपने दोष स्वीकार कर स्वदोष-गुंफन के अपराध से मुक्त हों और अपना बोझ हल्का करें। इस दिशा में अपनी ओर से पहल करूं। जिन साधकों को इस साधना-विधि से लाभ हुआ है वे कृतज्ञता-विभोर होकर श्रद्धा-भरे पत्र लिखते रहते हैं। इतना तो स्वाभाविक है। अतः समझ में आता है। पर कभी-कभी कोई साधक अत्यंत भावविभोर होकर अपने वक्तव्य में मेरे लिए अतिरंजना भरे विशेषण इस्तेमाल कर देते हैं। उनके इस भक्तिभावावेश को न रोकूं तो उन्हें बढ़ावा देता हूं, धोखा देता हूं। उन्हें ही नहीं, अपने आपको धोखा देता हूं और यदि उनके लेख कहीं प्रकाशित होते हैं तो लोगों को धोखा देता हूं। इसे दूर करनें के लिए मैं समस्त साधक संघ के समक्ष प्रत्यक्ष रूप से अपनी कमियाँ स्वीकार करता हूं। नहीं, मैं कोई भगवान नहीं हूं। अर्हंत नहीं हूं। जीवन-मुक्त नहीं हूं। पूर्ण वीतराग, वीतद्वेष, वीतमोह नहीं हूं। सर्वज्ञ नहीं हूं। अलौकिक चमत्कारिक सिद्ध पुरुष नहीं हूं, पूर्ण निर्दोष नहीं हूं। मैं एक सामान्य गृहस्थ हूं। गृहत्यागी संन्यासी के जीवन को धर्म पालन के लिए आकाश मार्ग की तरह निर्मल कहा गया है और गृहस्थ जीवन को धूलभरे, कीचड़भरे पथ की उपमा दी गयी है। यह सत्य ही है। मैं ऐसे धूल-कीचड़ भरे पथ का राही हूं, अतः कदम-कदम पर धूल-कीचड़ लगते ही रहते हैं। परन्तु सौभाग्य से विपश्यना साधना की ऐसी कल्याणी साबुन मिली है कि उसके प्रयोग द्वारा मैल को यथासंभव, यथाशक्ति स्वच्छ करता रहता हूं।

इसी प्रकार आज के इस पुण्य दिवस पर अपने प्रति जिन्होंने अपराध किया हो, आओ ! उन्हें खुले दिल से क्षमा करें ! इसमें भी मैं ही पहल करता हूं । शिविरों के दौरान अथवा शिविरों के बाहर दैनिक जीवन में किसी मान्यता की आसक्ति के कारण अथवा अपने किसी स्वप्न की आसक्ति के कारण चाहे-अनचाहे, जाने-अनजाने, काया-वाणी-चित्त से यदि कभी किसी ने मेरा अहित किया हो अथवा मेरा जी दुखाया हो तो मैं उसके सारे अपराध क्षमा करता हूं । उसे अपने इन अपराधों का दण्ड न भोगना पड़े ! वह सुखी रहे, संपन्न रहे, धर्मलाभी होकर निरंतर दुःख-विमुक्ति की ओर बढ़ता जाए ! उसकी सारी विघ्न–बाधाएं दूर हों ! उसके सारे स्वप्न, सारी अभीप्साएं आज की पूर्णिमा के चांद की तरह परिपूर्ण हों ।

साधको, आओ ! इस प्रकार आज के इस पावन पर्व को सार्थक करें और अपना तथा सब का मंगल मनाएं !

मंगल हो !

नमन करूं मैं बुद्ध को, कैसे करुणागार !
दुक्ख मिटावन पथ दिया, सुखी करन संसार ॥

नमन करूं मैं धरम को, कैसा पावन पंथ !
इस पथ पर जो भी चले, सहज बन गए संत ॥

नमन करूं मैं संघ को, कैसे श्रावक संत !
धर्म धार उजले हुए, निर्मल हुए भदन्त ॥

नमन करूं गुरुदेव को, कैसे संत सुजान !
कितने करुणा चित्त से, दिया धरम का दान !!

मैं करता सबको क्षमा, करें मुझे सब कोय !
मेरे तो सब मित्र हैं, बैरी दिखे न कोय ॥

सम्मुख साधक संघ के, करूं भूल स्वीकार !
उतरे मन की कालिमा, उतरे मन का भार !!

पथ भूल्यो दिग्भ्रम हुयो, रह्यो हियो अकुळाय
धन धन धन गुरूदेवजू, सतपथ दियो दिखाय

सतगुरु की संगत मिली, मिल्यो सत्य को सार
जीवन सफल बणा लियो, हल्को हुइग्यो भार

यदि सतगुरु मिलतो नहीं, धरम गंग रै तीर
तो बस गंगा पूजतो, कदे न पीतो नीर ॥

केवल होती धरम की, चरचा, तरक, बखाण ।
मिनख जमारो बीततो, बिन चाख्यां निरबाण ॥

आज नमन रो दिवस है, अंतर भरी उमंग ।
सरधा अर किरतग्यता, बिमल भगति रो रंग ॥

तेरो बल, तेरी विधा, तेरो ही आदेस ।
बण निमित्त बांटण लग्यो, बिमल न हुयो असेस ॥

आत्म-प्रणिधान

प्यारे साधक-साधिकाओ !

धर्मप्रज्ञा जाग्रत रहे !

आओ ! आज तुम्हें बुद्ध के जीवनकाल की एक घटना सुनाऊँ।

वक्कलि नाम का एक विद्वान उपासक भगवान बुद्ध के आश्रम में गया। महापुरुषों के ३२ लक्षणों से परिपूर्ण तथागत के सुंदर तेजस्वी शरीर ने, उनके प्रभावशाली ओजस्वी व्यक्तित्व ने, उस भावुक उपासक को सहज ही आकर्षित कर लिया। उन भगवान अंगिरस के अंग-अंग से जो प्रभा-रश्मियां प्रस्फुटित हो रही थीं, उन्होंने वक्कलि को भावाभिभूत कर दिया। उनके अंतर से उमड़ने वाली अपरिमित मैत्री और करुणा-तरंगों का गहरा प्रभाव भी था ही। वक्कलि ने चाहा कि वह भगवान की इस अनुपम रूप-राशि का ही दर्शन करता रहे। अतः वह घर से बेघर हो, दाढ़ी-मूँछ मुँड़ाकर, प्रव्रजित हुआ और भिक्षु-संघ में सम्मिलित हो गया। केवल इसीलिए कि उसे भगवान का सान्निध्य-सुख अधिक से अधिक प्राप्त हो सके। अब वह भक्ति के आवेश में रस-लोलुप भौंरे की तरह भगवान की रूप-माधुरी के चारों ओर मंडराने लगा। न उसे शील का ध्यान, न समाधि द्वारा चित्त एकाग्रता का अभ्यास और न ही विपश्यना द्वारा प्रज्ञा जाग्रत करने का कोई प्रयास। जब देखो तब, भगवान के सामने बैठा हुआ उनके प्रभा-मंडित चेहरे को अपलक-निर्निमेष देखता रहे। करुणामय भगवान तथागत ने देखा कि यह नया भिक्षु भक्ति-भावावेश में इतना अंधा हो गया है कि धर्म का सत्य-स्वरूप समझ ही नहीं पा रहा है। उन्होंने उसे फटकारते हुए कहा– "ए भोले भिक्षु! मेरे इस शरीर को पागलों की तरह क्या देख रहे हो? मेरे इस रूप में, इस काया में क्या रखा है? मेरी यह काया भी भीतर से उतनी ही गंदी है जितनी कि

किसी भी अन्य की काया। यदि मुझे देखना है तो मेरे भीतर
धर्म को देख। जो धर्म देखता है, वही मेरे सच्चे स्वरूप को दे
सही माने में मुझे देखता है– वह मेरे भीतर समाए हुए सत्य
देखता है, बाह्य शरीर को नहीं।"

यो खो धम्मं पस्सति, सो मं पस्सति।
यो मं पस्सति सो धम्मं पस्सति॥

महाकारुणिक की इस धर्म-फटकार से अंध-भक्ति के
डूबे हुए वक्कलि भिक्षु के प्रज्ञा-चक्षु खुले। उसे भगवान
समझ में आई कि वस्तुतः वे धर्म के मूर्त स्वरूप ही तो हैं।
दर्शन यदि काया-दर्शन तक ही सीमित रहा तो महज पागलप
उनके दर्शन में सत्य-धर्म का दर्शन होना ही चाहिए '[illegible]
निब्बाणं' का दर्शन होना ही चाहिए। और यह सांदृष्टिक निर्वाण धर्म तो अन्तर्मुखी होकर स्वयं अपने ही भीतर देखने के लिए है, बाहर नहीं। बात उसकी समझ में आ गई। विपश्यना-प्रज्ञा द्वारा अपने भीतर का सत्य धर्म-दर्शन किये बिना जीवन भर बुद्ध के चीवर को पकड़े हुए उनके पीछे लगे रहने वाला उनसे कोसों दूर ही है। परन्तु उनसे हजार योजन दूर कहीं किसी एकांत में अन्तर्मुखी होकर सत्य-धर्म का अपने भीतर ही साक्षात्कार कर लेने वाला बुद्ध के समीप ही है। धर्म का साक्षात्कार ही तो बुद्ध का साक्षात्कार है। धर्म का सान्निध्य ही तो बुद्ध का सान्निध्य है। आखिर बुद्ध क्या है ? 'सम्यक्संबोधि' का जीता जागता स्वरूप ही तो बुद्ध है।

यह बात समझ में आते ही वक्कलि पर छाया हुआ भक्ति-भावावेश का अंध घटाटोप दूर हुआ। सत्य-धर्म का आलोक प्रकाशित हुआ। उसने भगवान से विपश्यना साधना का कर्मस्थान सीखा, अन्तर्मुखी होने की सरल विधि सीखी और दूर एकान्त में जाकर अभ्यास करने लगा। पुराने भक्ति-भावावेश ने बीच-बीच में कुछ अड़चनें पैदा कीं परन्तु अन्ततः वह सच्चा साधक निर्वाण का साक्षात्कार कर कृतकृत्य हुआ। सभी आस्रवों,

क्लेशों, संयोजनों और बंधनों को दूर कर मृत्यु के पूर्व इसी जीवन में विमुक्त अवस्था को प्राप्त हुआ ।

तो हम देखते हैं कि अंध-भक्ति, अंध-विश्वास और अंध-श्रद्धा का भयावह भावावेश साधक की सही उन्नति में सदा बाधक ही सिद्ध होता है ।

भगवान ने कहा– "**तुम्हेहि किच्चं आतप्पं अक्खातारो तथागता**" याने तथागत तो केवल मार्ग आख्यात करने वाले हैं, विधि समझा देने वाले हैं, आखिर काम तो तुम्हें ही करना पड़ेगा। सारा रास्ता तो तुम्हें स्वयं चल कर पार करना होगा। इस यथार्थ से आंख मूंदकर भावुकता-वश हम बुद्ध को अथवा अन्य किसी छोटे बड़े गुरु को तारक मानकर उसके प्रति अंध-श्रद्धा और अंध-भक्ति में डूब कर उसी के आश्रित हो जायं, साधना-धर्म का अभ्यास छोड़ दें और अपने आपको बिल्कुल असमर्थ और निर्बल समझने लगें तो सचमुच पंगु और निकम्मे ही बन कर रह जायं। धर्म के नाम पर ऐसी भक्ति-भावावेशमयी हीन भावना हमारे लिए कदापि कल्याणकारी नहीं हो सकती। सच्चे कल्याण के लिए हमें अपना आत्मबल जीवित रखना ही होगा । आत्मबल जीवित रखना और मुक्तिपथ पर चलने के लिए अपनी जिम्मेदारियों के प्रति जागरूक रहना अहम्मन्यता नहीं है ।

विमुक्ति-मार्ग पर चलने के लिए आत्मभाव की अहमृमन्यता से बचना नितांत आवश्यक है। अपने भीतर समाए हुए अहंकार-ममकार को निकाल देना अनिवार्य है। परन्तु अहंकार निकालने के नाम पर अपने मन में हीन भावना भर लेना और उसे दुर्बल और परावलंबित बना लेना, विनाशकारी अहंकार के विरुद्ध उठाया गया एक ऐसा कदम है जो कि हमें इस एक छोर से बिल्कुल दूसरे छोर तक पहुंचाता है। यह दूसरी अति है, जो कि हमारे लिए उतनी ही हानिकारक है । हमें तो बीच का रास्ता अपनाना है, इन उभय अंतो को छोड़ कर कल्याणकारी मध्यम मार्ग

अलौकिकता देखना, जितना साधकों के लिए हानिप्रद है, उतना ही स्वयं आचार्य के लिए भी है। इस अंधे भावावेश में जहां शिष्य और आचार्य डूबे, वहीं मार्ग का भी पतन हो जाता है। भगवान की यह कल्याणकारी विपश्यना पद्धति ऋद्धियों और चमत्कारों के चक्कर में पड़े हुए धर्म–नेताओं और उनके अंधानुयायियों के कारण इस देश से सर्वथा लुप्त हो गई। स्वयं गुरुओं ने गुरु की महिमा गा-गा कर और उनमें अलौकिक शक्तियों की अतिरंजित व्याख्या कर करके लोगों की अंध-श्रद्धा का पोषण किया जिससे कि गुरुओं का मान-सन्मान बढ़े, उनके लाभ-सत्कार में अभिवृद्धि हो। आचार्यों की यशलिप्सा ने इस विशुद्धि-मार्ग को दूषित किया और इस प्रकार भगवान तथागत के बाद चंद सदियों में ही भारतवर्ष से इस कल्याणकारी मार्ग का लोप हो गया। शील, समाधि और प्रज्ञा का यह परम परिशुद्ध धर्म, विपश्यना साधना के सहारे एक लंबे अर्से बाद इस देश में पुनः आया है। इस मार्ग की विशुद्धि कायम रहे, जिससे कि सद्धर्म चिरकाल तक प्रतिष्ठित होकर लोगों को लाभ पहुंचाता रहे। इसके लिए यह नितांत आवश्यक है कि कोई भी साधक-साधिका अपने मार्ग-निर्देशक आचार्य में कभी किसी प्रकार के अलौकिक चमत्कार का आरोपण न करे। उसके प्रति मिथ्या ईश्वरत्व भाव रखकर किसी

अंध-श्रद्धा में न डूबे । तभी गुरु-शिष्य की एक स्वस्थ, स्वच्छ, आदर्श धर्ममय परंपरा स्थापित हो सकेगी, जो कि चिरकाल तक बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय बनी रहेगी । पूर्व संस्कारों के कारण कहीं-कहीं किसी-किसी विपश्यना साधक में ऐसा अंध-विश्वास जागने लगता है जिसे शीघ्र मिटाना चाहिए ।

हम सबका कल्याण इसी बात में है कि हम इस ध्रुव सत्य को समझतें रहें कि स्वयं अपने भीतर जागृत हुए अनित्यबोध की इस विपश्यना चेतना से बढ़कर और कोई शरण देने वाला है ही नहीं । झूठी कल्पनाओं और थोथी आशाओं में हम अपने आपको न डूबने दें और सदैव अपने भीतर के विपश्यना-चैतन्य को ही जगाए रखें ।

प्रतिक्षण भीतर ही भीतर जो कुछ अनुभूत हो रहा है, वह अनित्य है, क्षणभंगुर है, नश्वर है, परिवर्तनशील है, ऐसा तो इसका स्वभाव ही है, ऐसी तो इसकी प्रकृति ही है, ऐसा तो इसका धर्म ही है । सूक्ष्मातिसूक्ष्म अष्टकलापों से बना हुआ, परमाणु-कणों से बना हुआ, यह शरीर-प्रपंच पानी के बुलबुलों की तरह प्रतिक्षण बनता और नष्ट होता रहता है । इन्हीं परमाणुकणों के साथ जुड़ी हुई यह चित्त-संतति भी इसी प्रकार उत्पन्न और नष्ट होती रहती है । शरीर और चित्त की यह मिली जुली जीवनधारा कितनी भंगमान है, किस प्रकार प्रतिक्षण भंग ही हो रही है, इस सच्चई को विपश्यना की सम्यक्-दृष्टि द्वारा देखते रहें । यही चित्त-विशोधन का मंगल-मार्ग है । इस समय हमें जिस सत्य के दर्शन हो रहे हैं, उसी के प्रति जागरूक रहना हमारा धर्म है । किसी भावी स्वप्निल स्थिति की मधुर कल्पना और आसक्तिभरी कामना हमारी प्रगति का सबसे बड़ा रोड़ा है । उससे बचें ।

विपश्यना धर्म वर्तमान में जीने का धर्म है । इस समय जो जैसा अनुभूत हो रहा है, वही हमारे काम का है । न भूतकाल जो कि बीत चुका है और न भविष्य जो कि अभी तक आया नहीं । अतः कल्पनाओं और

धर्म ही रक्षक है

अपने भविष्य की सुरक्षा के लिए चिंतित रहना मनुष्यमन का स्वभाव बन गया है। आने वाले क्षण सुखद हों, योग-क्षेम से परिपूर्ण हों, इस निमित्त मानव भांति-भांति की शरण खोजता है, आश्रय ढूंढता है, सहारा टटोलता है। परन्तु धर्म को छोड़कर न कोई ऐसी शरण है, न कोई ऐसा आश्रय है, न कोई ऐसा सहारा है जो कि उसे भविष्य के प्रति निःशंक बना दे, निर्भय बना दे, योग-क्षेम से परिपूर्ण कर दे। अतः धर्म-शरण ही एकमात्र शरण है, धर्म का संरक्षण ही एकमात्र सही संरक्षण है। और धर्म वह जो हमारे भीतर जागे, धर्म वह जिसे हम स्वयं धारण करें। किसी दूसरे के भीतर जागा हुआ धर्म, किसी दूसरे के द्वारा धारण किया हुआ धर्म, हमारे किस काम का ? वह तो अधिक से अधिक हमें प्रेरणा प्रदान कर सकता है, विधि प्रदान कर सकता है, जिससे कि हम स्वयं अपने भीतर का धर्म जगाएं, अपने भीतर का प्रज्ञा-प्रदीप प्रज्वलित करें। परन्तु हमारा वास्तविक लाभ तो स्वयं धर्म धारण करने में ही है। अतः धर्म-शरण का सही अभिप्राय आत्म-शरण ही है। तभी तो भगवान ने कहा—**अत्तसम्मा पणिधि च एतं मंगलमुत्तमं**। यानी हमारा उत्तम मंगल इसी बात में है कि हम सम्यक् प्रकारेन् अर्थात भली-भांति आत्म-प्रणिधान का अभ्यास करें। किसी भी बाह्य शक्ति के प्रति प्रणिधान का अभ्यास तो हमें केवल मात्र कायर, परावलंबी और असमर्थ ही बना देने वाला साबित होगा। यह आत्म-द्वीप और आत्म-शरणही है, जो कि सही माने में धर्म-द्वीप और धर्म-शरण है। हर संकट के समय हम अपने भीतर का धर्म जगाएं। अपने भीतर धारण किये हुए धर्म द्वारा एक ऐसा सुरक्षित द्वीप बनाएं जिसमें कि हमारे जीवन की डगमगाती हुई नैया सही संरक्षण पा सके, संकटों के प्रति हमारी सुरक्षा स्थिर हो सके।

हम देखते हैं कि भगवान बुद्ध के जीवनकाल में जब बड़े-बड़े

महास्थविर भी रोग-ग्रस्त हो जाते थे, शारीरिक [illegible]
मानसिक दुर्बलता के शिकार हो जाते थे, तो उनके [illegible]
धर्म-सूत्रों का, विशेषकर बोध्यंग सूत्र का पाठ करते थे, जिससे कि उनकी धर्म-चेतना जागे, उनके भीतर बोधि-धर्म की प्रज्ञा जागे। इसलिए इन सूत्रों को परित्राण सूत्र भी कहा जाने लगा। रुग्ण साधकों को इन सूत्रों से जो लाभ होता था, उसका प्रमुख कारण उनके भीतर प्रज्ञा धर्म की चेतना जागृत होना ही था। ये सूत्र तो प्रेरणा के साधन मात्र ही हुआ करते थे। विपश्यना साधना द्वारा शरीर के अणु-अणु में जिस उदय-व्यय का बोध जाग उठता है, नाम और रूप के सतत् भंगमान स्वरूप का चैतन्य जाग उठता है, वही प्रज्ञाधर्म है, जो कि हमारे सब प्रकार के शारीरिक और मानसिक दुखों को दूर करता है। प्रज्ञा के इस चैतन्य को जगाने के लिए कभी-कभी अनेक साधक रोगी के आस-पास बैठ कर सामूहिक विपश्यना-साधना करते हैं, जिससे कि रोगी की मंद पड़ी प्रज्ञा -चेतना नया बल प्राप्त करती रहे।

ऐसा लगता है कि कभी पुराने समय में रोगी साधक की विपश्यना-साधना की चेतना जगाने के लिए उनके हाथ में एक सूत का धागा बांधा जाता होगा और उस लंबे धागे का दूसरा छोर अन्य साधक पकड़े रखकर बोध्यंग जैसे परित्राण सूत्रों का पाठ करते होंगे तथा साधना करते होंगे, जिससे कि रोगी की सोयी हुई धर्म-चेतना जाग उठती होगी। पड़ोस के बौद्ध देशों में आज भी ऐसे रक्षा-सूत्रों को बांधकर परित्राण मंत्रों के पाठ की प्रथा कायम है। परन्तु कहीं-कहीं तो यह एक निर्जीव रूढ़ि मात्र रह गयी है। एक अंध-विश्वास की परंपरा मात्र रह गयी है। यदि इन रक्षा-सूत्रों का उपयोग करने वाले और परित्राण-मंत्रों का पाठ करने वाले सच्चे साधक अपने भीतर विपश्यना प्रज्ञा का चैतन्य जगाकर रोगी के प्रति मंगल मैत्री प्रवाहित करते हैं और यदि वह रोगी भी स्वयं विपश्यना साधक है और इन धर्म-तरंगों से उसके भीतर का प्रज्ञा-चैतन्य जाग उठता है तो निश्चय ही वह धर्म का संरक्षण पाता है। इसके बिना तो

यह एक निष्प्राण औपचारिकता मात्र ही है। मुख्य बात यही है कि हम अपने भीतर की प्रज्ञा जगाए रखें और इसके लिए समाधि द्वारा अपने चित्त को एकाग्रता पुष्ट रखें और कायिक, वाचिक दुष्कर्मों से बचते हुए अपने शील को अखंडित रखें। शील, समाधि और प्रज्ञा का यह विशुद्ध धर्म हम स्वयं अपने भीतर जितना सुरक्षित रखेंगे, याने हम जितने-जितने धर्म-विहारी बनेंगे, उतने-उतने ही इस स्वयं पालन किये हुए धर्म द्वारा, स्वयं धारण किये हुए धर्म द्वारा, स्वयं सुरक्षित किये हुए धर्म द्वारा अपना संरक्षण हो पायेंगे। भगवान ने ठीक ही तो कहा '**धम्मो हवे रक्खति धम्मचारिं**' धर्मचारी की रक्षा धर्म आप ही करता है। तो अपनी सही सुरक्षा के लिए स्वयं सच्चे धर्मचारी बनें, धर्म-विहारी बनें, धर्म-पालक बनें। इसी में हमारा मंगल निहित है, भला निहित है, कल्याण निहित है।

मंगल हो !

सच राखी के तार में भरा बहन का
पर वह रक्षा कर सके, इसमें सत्य न सार ॥

राखी बांधे ही कहीं, सचमुच रक्षा होय ।
तो, बहना ! रक्षा बिना, जग में रहे न कोय ॥

याद दिलाए धर्म की, यदि राखी के तार ।
तब तो राखी काम की, सफल बहन का प्यार ॥

प्रज्ञा जागृत ही रहे, शील गंग के तीर ।
धर्म सदा करता रहे, रक्षा तेरी, बीर !

रक्षा कर तूं धर्म की, यदि रक्षा की चाह ।
सत्य-धर्म को छोड़कर, और न शरण पनाह ॥

बाह्य शरण की आश में, आत्म-शरण दी छोड़ ।
मानव तूं अशरण हुआ, शरण कहां ? किस ठौर ?

छाया के पीछे लगा, जिसमें तत्त्व न सार ।
राख आसरा धर्म का, अन्य सभी बेकार ॥

तूं ही तेरा ईश है, तूं तेरा भरतार ।
अपनी दुर्गति सुगति का, तूं ही तो करतार ॥

शरणागत हूँ आत्म की, अन्य शरण ना कोय ।
आत्म-शरण सद्धर्म शरण, सत्य-वचन सुख होय ॥

तीन-रत्न की शरण में, आत्म-शरण पहचान ।
आत्म-शरण ही धर्म है, धर्म-शरण सुख खान ॥

जीवन में झंझा उठे, आंधी बने बयार ।
शरण ग्रहण कर धर्म की, अन्य शरण निस्सार ॥

काली पीली आंधियाँ, फुंकारे ज्यों व्याल ।
मैं काहे चिंता करूं ? धर्म खड़ा रखवाल ॥

धर्म-हमारा ईश है, धर्म-हमारा नाथ ।
हम अनाथ कैसे हुए ? धर्म हमारे साथ ॥

धर्म-सदृश रक्षक नहीं, धर्म-सदृश ना ढाल ।
धर्म-विहारी की सदा, धर्म करे प्रतिपाल ॥

प्रलयंकारी बाढ़ में, धर्म-सदृश न द्वीप ।
अंधकारमय रात में, धर्म-सदृश न दीप ॥

राखी हाथां बांधती, बोली भैण सुधीर
धरम सदा रक्छा करै, धरम पालिये, वी

राखी हाथ बंधावतो, बोल्यो मीठा बैण
धरम सदा रक्छा करै, धरम पालिये, भै

धरम जिसो ना कवच है, धरम जिसी ना ढाल ।
धरम पालकां की सदा, धरम करै प्रतिपाल ॥

धरम जिसो रक्छक नहीं, सखा, सहायक, मीत ।
राख आसरो धरम को, राख धरम सूं प्रीत ॥

जीवन महँ आंध्यां जगै, जगै तेज तूफान ।
धरम सुरक्छा द्वीप है, धरम सुखां की खान ॥

सुन रै भोळा मानवी ! कहूं धरम रो सार ।
आस परायी छोड़ दे, अपणो चित्त सुधार ॥

समझ धरम रै रूप नै, यो क्रिपाण यो ढाल ।
हत्यारै रो काल है, रक्छक रो रखवाल ॥

मुख लटक्यो मुरझा गयो, सांसां निकसी हाय ।
संकट महँ बिन धरम कै, बीजो कूण सहाय ?

अपणो बल भूल्यो रह्यो पड़्यो परायी आस ।
धन्य धरम पायो इसो, मिल्यो आत्म-विस्वास ॥

जणै जणै रै पग पड़्यो, कारज सर्‌यो न एक ।
राख धरम रो आसरो, राख धरम री टेक ॥

आस लियां फिरतो र यो, कीं कै कीं कै लार ।
और न तारण आवसी, आपै होस्यां पार ॥

किसी क करुणा बुद्ध की, मारग दियो बताय ।
पार उतरस्यां आप ही, चाल्यां पाए पाय ॥

चलतो चलतो आप ही, पंथ सांकड़ो होय ।
पड़्यां पराए आसरै, पार न पूग्यो कोय ॥

आप आप कै करम सूँ, आपै निरमल होय ।
आपां नै निरमल करै, और न दूजो कोय ॥

आपै ही खोटा करै, आपै मैलो होय ।
खोटी करणी छूटतां, आपै उजलो होय ॥

धर्म-शरण

मेरे प्यारे साधक-साधिकाओ !

आओ, धर्म-शरण ग्रहण करें !

बड़ी मंगलकारिणी है धर्म की शरण !

धर्म सत्य है, ऋत है, विश्वविधान है, कुदरत का का· ·
निर्जीव, सभी धर्म पर आधारित हैं । अणु-अणु को
व्रह्माण्ड-व्रह्माण्ड को धर्म ही धारण किये हुए है। अणु, ि
के ही धारण किये हुए हैं ।

धर्म असीम, अनंत, अपरिमित है ! घट-घट में बसा हुआ, अणु-अणु में समाया हुआ है ! सर्वव्यापी, सर्वशक्तिमान, सर्वेश्वर है ! जगदीश्वर, जगदाधार, जगन्नियन्ता है ! धर्म सचमुच अशरण-शरण है !

साधको ! जीवन में जब-जब संकट आए, आंधी आए, तूफान आए, बेसहारापन आए, किंकर्तव्य-विमूढ़ता आए तब-तब धर्म की शरण ग्रहण करना सीखें। बड़ी राहत मिलती है धर्म की शरण में। जब कभी पैशाचिक प्रभंजन निर्मम अट्टहास करता हो, असीम जलप्लावन भयानक रौरव का रूप धारण कर लेता हो, शान्त जलधि में महाज्वार उमड़ पड़ता हो, चारों ओर उत्ताल तरंगे विषधर नाग की तरह फुत्कारने लगती हों, विनाशकारी जल-भ्रमर सब को अपने भीतर लीलने के लिए व्यग्र हो उठता हो, तब आदमी के सभी सहायक कन्नी काट जाते हैं, सभी संबंधी बगलें झांकने लगते हैं, सभी सहयोगी तोते की तरह आंख बदल लेते हैं, जन्म-जन्म के साथी मुंह मोड़ लेते हैं, बंधु-बांधव अपने-अपने प्राण बचाने में लग जाते हैं, सभी डूबते हुए किसी न किसी तिनके का सहारा खोजने में लग जाते हैं। सारा अपनापन हवा हो जाता है। स्वजन-परिजन पराए बन जाते हैं। ऐसे समय, साधको ! एकमात्र धर्म ही सहायक होता है। धर्म ही बड़ा

काम करता है, द्वीप का काम करता है। धर्म की शरण ही सच्ची शरण होती है। जब दुर्बल व्यक्ति थका-मांदा होने के कारण अपने आप को बचाने के लिए हाथ-पांव भी नहीं चला पाता, कहीं किसी ओर किसी तिनके का सहारा भी नहीं पाता तो अपने आपको धर्म के बहाव में बहने के लिए छोड़ देता है। और जहां समपित भाव से धर्म के बहाव में बहने लगता है, वहीं धर्म कवच की तरह संरक्षक बन जाता है। धर्म कभी धोखा नहीं देता, कभी विश्वासघात नहीं करता, कभी नीचे की ओर नहीं धकेलता। साधको! जरा धर्म के प्रति समर्पण करना तो सीखें।

साधको! मैं सुनी-सुनाई या पढ़ी-पढ़ाई बात नहीं कहता। अपने अनुभव की बात कहता हूं। सचमुच! बड़ी राहत मिलती है, धर्म के प्रति समर्पित होने में, धर्म की शरण जाने में।

पर अमूर्त धर्म की शरण जाना कठिन काम है। हम सदा से किसी न किसी मूर्त व्यक्ति को ही शरण जाने के आदी रहे हैं न! और व्यक्ति, जो भी हो, बेचारा स्वयं ससीम, स्वयं असुरक्षित, स्वयं अशरण है! दूसरे को भला क्या शरण देगा? किसी शरणार्थी को समीप आया देख, स्वयं अपनी गठरी-मुठरी संभालने लगेगा। अपनी सुरक्षा की चिंता करने लगेगा। दुर्बल दुर्बल की क्या सहायता करेगा? अनाथ अनाथ को क्या सहयोग देगा? अंधा अंधे को क्या रास्ता दिखायेगा?

अतः सबल और सक्षम अमूर्त धर्म की ही सहायता लें। धर्म की ही शरण ग्रहण करें! कुछ देर के लिए ही सही, जरा निःस्पृह होकर धर्म के बहाव में जीवन को बहने देने के लिए खुला छोड़कर देखें। बड़ा आत्मबल प्राप्त होगा, बड़ा आत्मविश्वास जागेगा। अपने आपको बहाव के सहारे छोड़ना नए संस्कार बनाने बंद करना है। इसीसे पुरानों की निर्जरा का रास्ता खुलता है और पूर्व कर्मों के फलस्वरूप आए तूफान का बल अपने आप क्षीण होने लगता है। यही धर्म की शरण जाना है।

धरम जगत का ईश है, धरम ब्रह्म भगवान ।
धरम सदा रक्षा करे, धरम बड़ा बलवान ।।

एक शरण है धरम की, और शरण नहिं कोय ।
सत्य वचन के तेज से, सबका मंगल होय ।।

धरम शरण मंगल शरण, करे परम कल्याण ।
धरम शरण अशरण-शरण, धरम सुखों की खान ।।

अपना रक्षित धरम ही, अपना रक्षक होय ।
धारण कर लें धरम को, धरम सहायक होय ।।

जब पासे उलटे पड़ें, कर मेहनत जी तोड़ ।
पर श्रम के परिणाम को, छोड़ धरम पर छोड़ ।।

जय हो ! जय हो ! धरम की, पाप पराजित होय ।
सारी विपदा संत की, त्वरित तिरोहित होय ।।

कीं कै कीं कै पग पड़्यो, रह्यो रगड़तो नाक ।
घर घर खायी ठोकरां, दर दर छाणी राख ॥

रै ! कीं कै आयो सरण, ये असरण है आप ।
[illegible]म एक असरण-सरण, धरम मांय अर बाप ॥

निज पग पर हो कर खड़्यो, चाल धरम कै पंथ ।
मिटसी सारी दीनता, होय दुखां को अंत ॥

बिपदा आयी देख कर, मत तड़पै मत रोय ।
राख आसरो धरम को, सदा भलो ही होय ॥

आंख बदल कर चल धरै, जद सारो संसार ।
आगै पीछै धरम ही, मंगल को भंडार ॥

ज्यूं ज्यूं ओसध धरम की, सेवण करतो जाय ।
त्यूं त्यूं अपणै पाप की, ताप उतरती जाय ॥

धर्म का सर्वहितकारी स्वरूप

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। समाज से अलग-थलग रहना उसके लिए न उचित है और न ही संभव। समाज में रहते हुए समाज के लिए वह कितना स्वस्थ सहायक बना रह सके, इसी में उसके जीवन की उपादेयता हैं, सार्थकता है। स्वस्थ व्यक्तियों से ही स्वस्थ समाज का निर्माण होता है। अस्वस्थ व्यक्ति स्वयं तो दुखी रहता ही हैं, अपने संपर्क में आने वाले समाज के अन्य लोगों को भी उत्तापित करता रहता है। अतः सुखी समाज का निर्माण करने के लिए व्यक्ति-व्यक्ति को सुख-स्वास्थ्य से भरपूर करना नितांत आवश्यक है। एक-एक व्यक्ति स्वच्छ-चित्त हो, शांत हो तो ही समग्र समाज की शांति बनी रह सकती है। धर्म इस व्यक्तिगत शांति के लिए एक अनुपम साधन है और इस कारण विश्व-शांति का भी एकमात्र साधन यही है।

धर्म का अर्थ सम्प्रदाय नहीं है। सम्प्रदाय तो मनुष्य-मनुष्य के बीच, वर्ग-वर्ग के बीच, दीवारें खड़ी करने, विभाजन पैदा करने का काम करता है। जबकि सच्चा धर्म दीवारों को तोड़ता है, विभाजनों को दूर करता है।

सच्चा धर्म मनुष्य के भीतर समाए हुए अहंभाव को अथवा हीनभाव को जड़ से उखाड़ कर फेंकता है। मानव मन की आशंकाएं, उत्तेजनाएं, उद्विग्नताएं दूर करता है और उसे स्वच्छता और निर्मलता के उस धरातल पर प्रतिष्ठित करता है, जहां न अहंकार टिक सकता है और न ही हीन भाव की ग्रन्थियों से ग्रस्त दैन्य पनप सकता है। जीवन में समत्वभाव आता है और हर वस्तु, व्यक्ति और स्थिति को उसके यथार्थ स्वरूप में देख सकने की निर्मल प्रज्ञा जागती है। अतिरंजना और अतिशयोक्तियों में डूबा हुआ भक्ति-भावावेश दूर होता है। ज्ञान, विवेक, बोधि के अंतर्चक्षु विरज-विमल बन जाते हैं। अन्तर्दृष्टि पारदर्शी बन जाती है।

अन्तर की आंखों के सामने से सारा कुहरा, सारी धुंध, दूर हो जाती है। यह जो हमने सुनी-सुनाई और पढ़ी-पढ़ाई बातों से अपने मन को विकृत कर लिया है, यही पूर्वाग्रहरूपी विकृतियां सत्य-दर्शन में बाधा पैदा करती हैं। पूर्वनिश्चित धारणाएं और मान्यताएं हमारी आंखो पर रंगीन चश्मों की तरह चढ़ी रहती हैं और हमें वास्तविक सत्य को अपने ही रंग में देखने के लिए बाध्य करती हैं। धर्म के नाम पर हमने इन बेड़ियों को सुंदर आभूषणों की तरह पहन रखा है। सच्ची मुक्ति के लिए इन बेड़ियों का टूटना नितांत आवश्यक है।

चित्त को राग, द्वेष, मोह, ईर्श्या, मात्सर्य, दुर्भावना, दौर्मनस्य, भय, आशंका, मिथ्या काल्पनिक दृष्टियों, मान्यताओं और रूढ़ियों की जकड़ से मुक्त करने के लिए आवश्यक है कि सारी पूर्व परंपराओं को एक ओर रखकर, भावुकता को दूर हटाकर हम यथार्थ में जीना सीखें। यथार्थ में जीना वर्तमान में जीना है, इस क्षण में जीना है, क्योंकि बीता हुआ क्षण यथार्थ नहीं, वह तो समाप्त हो चुका है। अब तो केवल मात्र उसकी याद रह सकती है, वह क्षण नहीं। इसी तरह आने वाला क्षण अभी उपस्थित नहीं है, उसकी केवल कल्पना हो सकती है, कामना हो सकती है। उसका यथार्थ-दर्शन नहीं हो सकता। वर्तमान में जीने का अर्थ है, इस क्षण में जो कुछ अनुभूत हो रहा है, उसी के प्रति जागरूक होकर जीना। भूतकाल की सुखद या दुखद स्मृतियां अथवा भविष्य काल की सुखद आशाएं या दुखद आशंकाएं हमें वर्तमान से दूर ले जाती रहती हैं और इस प्रकार सच्चे जीवन से विमुख रखती हैं। वर्तमान से विमुख यह थोथा निस्सार जीवन ही हमारे लिए विभिन्न क्लेशों का कारण बनता है। अशांति, असंतोष, अतृप्ति, आकुलता, व्यथा और पीड़ा को ही जन्म देता है। जैसे ही हम इस क्षण का यथाभूत दर्शन करते हुए जीने लगते हैं, वैसे ही क्लेशों से स्वाभाविक मुक्ति मिलने लगती है।

इस देश के एक महापुरुष भगवान तथागत बुद्ध को यही सम्यक् संबोधि प्राप्त हुई। इस क्षण में जीना सीखकर चित्त को संस्कारों से विहीन

कर, परम परिशुद्ध कर, बंधन-मुक्त हो सकने की कला हासिल हुई। उन्होंने जीवन भर लोगों को इसी कल्याणकारिणी कला का अभ्यास कराया। इसी मंगलमयी विधि का नाम विपश्यना साधना है। साधक इस क्षण जो कुछ अनुभूत कर रहा है, उसी के प्रति जागरूक रहता है। काया के प्रति जागरूक रहते हुए कायानुपश्यना करता है। चित्त में अनुभूत होनेवाली समस्त सुखद व दुखद अथवा असुखद-अदुखद संवेदनाओं के प्रति जागरूक रहते हुए वेदनानुपश्यना करता है। अपने ही चित्त के प्रति जागरूक रहकर चित्तानुपश्यना करता है। अपने ही चित्त में उठने वाली विभिन्न अच्छी-बुरी वृत्तियों के प्रति, उनके गुण, धर्म, स्वभाव के प्रति जागरूक रहता हुआ और अंततः काया, वेदना, चित्तवृत्तियों और चित्त की परिसीमाओं से परे निर्वाण-धर्म का साक्षात्कार करता हुआ धम्मानुपश्यना करता है। इस जागरूकता का अभ्यास उसके चित्त पर पड़े हुए सभी बुरे विकारों और संस्कारों का उच्छेदन करता है। चित्त धीरे-धीरे आसक्तियों से, आस्रवों से, व्यसनों के खिंचाव से, तृष्णाओं और तीव्र लालसाओं के बंधन से, अतीत की सुखद-दुखद यादों की निरर्थक उलझनों से, भावी आशंकाओं के भय-भीतिजन्य मानसिक उत्पीड़न से, भविष्य के सुनहरे स्वप्नों की काल्पनिक उधेड़बुन से विमुक्त होता हुआ, अपनी स्वाभाविक नैसर्गिक स्वच्छता को प्राप्त होता है।

समस्त ऐंठन-अकड़न भरी ग्रन्थियों और खिंचाव-तनावभरी मानसिक पीड़ाओं को दूर करने का यह एक सहज सरल तरीका है, जो कि मानव मात्र के लिए समान रूप से कल्याणकारी है। इसका अभ्यास करने के लिए यह भी अनिवार्य नहीं कि कोई अपने आपको बौद्ध सम्प्रदाय में दीक्षित कर ले। इस विधि के अभ्यास के लिए यह भी अनिवार्य नहीं कि इसके आदि प्रवर्तक भगवान बुद्ध की मूर्ति को नमन किया ही जाय। उसे धूप, दीप, नैवेद्य, आरती से पूजित किया ही जाय। यह भी आवश्यक नहीं कि साधक उस आदि गुरू के रूप या आकार का भी ध्यान करे ही अथवा उसके नाम या मंत्र का जप करे ही। यह भी नहीं कि उसकी शरण ग्रहण करने के नाम पर ऐसा अंध आत्म-समर्पण कर दे कि बिना स्वयं

वर्तमान क्षण

मेरे प्यारे साधक आधिकाओ !

धर्मप्रज्ञा जाग्रत रहे !

धर्मप्रज्ञा जाग्रत रखकर ही हम वर्तमान क्षण में जीना सीख सकेंगे। यह क्षण जो प्रत्युत्पन्न क्षण है, जो कि अभी-अभी उत्पन्न हुआ है, यही तो हमारे काम का है। जो क्षण बीत गये, उनको हम याद भले कर लें, पर उनमें हम जी नहीं सकते। जो क्षण अभी आये नहीं, उनकी हम कल्पना या कामना भले कर लें, परन्तु उनमें हम जी नहीं सकते। हमारे जीने के लिए तो यही क्षण है जो अभी-अभी उत्पन्न हुआ है। अगर हम इस क्षण में जीते हैं, तो ही सही माने में जीते हैं। अन्यथा तो केवल मात्र जीने का बहाना करते हैं, वस्तुतः जीते नहीं। क्योंकि वर्तमान क्षण ही तो यथार्थ है और यथार्थ में जीना ही तो सही जीना है।

यह सच है कि प्रत्युत्पन्न क्षण, याने अभी-अभी उत्पन्न हुआ क्षण, जरा देर के लिए भी टिकता नहीं। वह कितनी तेजी के साथ अतीत में विलीन होने के लिए भागा चला जा रहा है। परन्तु इससे हमें निराश नहीं होना है। प्रत्येक वर्तमान क्षण जिस शीघ्रता के साथ भूतकाल की ओर भाग रहा है, उसी शीघ्रता के साथ आने वाला अगला क्षण उसका स्थान भी तो ले रहा है। भावी क्षण वर्तमान में धंसता चला आ रहा है। वर्तमान क्षण के विलीन होते ही नवीन क्षण उसका स्थान ले ही लेता है। इस प्रकार वर्तमान क्षण के अस्तित्व का क्रम बना रहता है। जिस द्रुत गति से वर्तमान क्षण उदय होता है, उसी द्रुत गति से लय भी हो जाता है। उदय और लय के बीच की स्थिति के लिए भी जरा सा अवकाश नहीं रहता। इसी प्रकार जिस द्रुत गति से वर्तमान क्षण का लय होता है उसी द्रुत गति से उसके साथ जुड़े हुए नए क्षण का उदय हो जाता है। इन दोनों के बीच

ज़रा सा भी अंतराल नहीं रहता। अगले क्षण से जुड़ते चले जाने से प्रत्येक इस क्षण के अस्तित्व का क्रम अनंत हो जाता है। इसीलिए कहा जाता है कि इस अल्पजीवी लघुतम क्षण में जीना आ जाय तो अनंत में जीना आ जाय, अक्षय में जीना आ जाय। इस नन्हें से क्षण में जीने की कला हासिल करने के लिए ही यह विपश्यना साधना है, जिसमें कि हम इस क्षण उत्पन्न होने वाली स्थिति को बिना भूत और भविष्य के साथ जोड़े हुए उसके यथार्थ स्वरूप में देख सकने का अभ्यास करते हैं। हमारा यह अभ्यास अभी प्रारंभिक ही है और हम वर्तमान की सीमा को लघुतम करने का प्रयास कर रहे हैं। जैसे-जैसे यह परिधि संकुचित होती जायेगी, वैसे-वैसे निकटतम अतीत और निकटतम भविष्य के साथ भी हमारे सम्बन्ध विच्छेद होते चले जाएंगे और इसी अभ्यास में एक समय आएगा, जबकि हम लघुतम प्रत्युत्पन्न क्षण का साक्षात्कार करना सीख लेंगे। उसी का साक्षात्कार परम सत्य का साक्षात्कार है और वह इस विपश्यना प्रक्रिया में सहज भाव से उपलब्ध हो जाता है। उसकी किंचित् मात्र भी कामना या कल्पना उसकी उपलब्धि में बाधा बन जाती है।

यह सत्य है कि उस परम सत्य की उपलब्धि जब भी होगी तो सहज भाव से ही होगी। परन्तु उस स्थिति तक पहुंचने के लिए थोड़ा-बहुत प्रारंभिक अभ्यास तो करना ही पड़ेगा। कुशल तैराक सहज स्वभाव से तैरता है। कुशल ड्राइवर सहज स्वभाव से अपनी गाड़ी चलाता है। परन्तु उसे यह सहज स्थिति प्राप्त करने के लिए प्रारंभिक अभ्यास तो करना ही पड़ा था। इसी प्रकार पहुंचा हुआ संत सहज भाव से निर्वाण का साक्षात्कार करता है, परन्तु इसके लिए उसे भी कभी प्रारंभिक अभ्यास तो करना ही पड़ा था। कोई बात अनायास ही चमत्कारपूर्वक हो जाएगी, अथवा किसी बाह्य शक्ति की दया-दृष्टि से हो जाएगी, इस आशा में बैठे रहना अपने आपको धोखा देना है।

आरंभ में तो बिना प्रयत्न किए सामान्य शील-पालन भी कठिन होता है। इसके लिए मन पर नियंत्रण और दमन का रास्ता ही अपनाना

वर्तमान क्षण

मेरे प्यारे साधक आधिकाओ !

धर्मप्रज्ञा जाग्रत रहे !

धर्मप्रज्ञा जाग्रत रखकर ही हम वर्तमान क्षण में जीना सीख सकेंगे। यह क्षण जो प्रत्युत्पन्न क्षण है, जो कि अभी-अभी उत्पन्न हुआ है, यही तो हमारे काम का है। जो क्षण बीत गये, उनको हम याद भले कर लें, पर उनमें हम जी नहीं सकते। जो क्षण अभी आये नहीं, उनकी हम कल्पना या कामना भले कर लें, परन्तु उनमें हम जी नहीं सकते। हमारे जीने के लिए तो यही क्षण है जो अभी-अभी उत्पन्न हुआ है। अगर हम इस क्षण में जीते हैं, तो ही सही माने में जीते हैं। अन्यथा तो केवल मात्र जीने का बहाना करते हैं, वस्तुतः जीते नहीं। क्योंकि वर्तमान क्षण ही तो यथार्थ है और यथार्थ में जीना ही तो सही जीना है।

यह सच है कि प्रत्युत्पन्न क्षण, याने अभी-अभी उत्पन्न हुआ क्षण, जरा देर के लिए भी टिकता नहीं। वह कितनी तेजी के साथ अतीत में विलीन होने के लिए भागा चला जा रहा है। परन्तु इससे हमें निराश नहीं होना है। प्रत्येक वर्तमान क्षण जिस शीघ्रता के साथ भूतकाल की ओर भाग रहा है, उसी शीघ्रता के साथ आने वाला अगला क्षण उसका स्थान भी तो ले रहा है। भावी क्षण वर्तमान में धंसता चला आ रहा है। वर्तमान क्षण के विलीन होते ही नवीन क्षण उसका स्थान ले ही लेता है। इस प्रकार वर्तमान क्षण के अस्तित्व का क्रम बना रहता है। जिस द्रुत गति से वर्तमान क्षण उदय होता है, उसी द्रुत गति से लय भी हो जाता है। उदय और लय के बीच की स्थिति के लिए भी जरा सा अवकाश नहीं रहता। इसी प्रकार जिस द्रुत गति से वर्तमान क्षण का लय होता है उसी द्रुत गति से उसके साथ जुड़े हुए नए क्षण का उदय हो जाता है। इन दोनों के बीच

जरा सा भी अंतराल नहीं रहता। अगले क्षण से जुड़ते च . . . .
इस क्षण के अस्तित्व का क्रम अनंत हो जाता है। इसीलिए कह सकते हैं कि इस अल्पजीवी लघुतम क्षण में जीना आ जाय तो अनंत में जीना आ जाय, अक्षय में जीना आ जाय। इस नन्हें से क्षण में जीने की कला हासिल करने के लिए ही यह विपश्यना साधना है, जिसमें कि हम इस क्षण उत्पन्न होने वाली स्थिति को बिना भूत और भविष्य के साथ जोड़े हुए उसके यथार्थ स्वरूप में देख सकने का अभ्यास करते हैं। हमारा यह अभ्यास अभी प्रारंभिक ही है और हम वर्तमान की सीमा को लघुतम बनाने का प्रयास कर रहे हैं। जैसे-जैसे यह परिधि संकुचित होती जायेगी, वैसे-वैसे निकटतम अतीत और निकटतम भविष्य के साथ भी हमारे सम्बंध विच्छेद होते चले जाएंगे और इसी अभ्यास में एक समय आएगा, जबकि हम लघुतम प्रत्युत्पन्न क्षण का साक्षात्कार करना सीख लेंगे। उसीका साक्षात्कार परम सत्य का साक्षात्कार है और वह इस विपश्यना पद्धति से सहज भाव से उपलब्ध हो जाता है। उसकी किंचित् मात्र भी कामना या कल्पना उसकी उपलब्धि में बाधा बन जाती है।

यह सत्य है कि उस परम सत्य की उपलब्धि जब भी होगी तो सहज भाव से ही होगी। परन्तु उस स्थिति तक पहुंचने के लिए थोड़ा-बहुत प्रारंभिक अभ्यास तो करना ही पड़ेगा। कुशल तैराक सहज स्वभाव से तैरता है। कुशल ड्राइवर सहज स्वभाव से अपनी गाड़ी चलाता है। परन्तु उसे यह सहज स्थिति प्राप्त करने के लिए प्रारंभिक अभ्यास तो करना ही पड़ा था। इसी प्रकार पहुंचा हुआ संत सहज भाव से निर्वाण का साक्षात्कार करता है, परन्तु इसके लिए उसे भी कभी प्रारंभिक अभ्यास तो करना ही पड़ा था। कोई बात अनायास ही चमत्कारपूर्वक हो जाएगी, अथवा किसी बाह्य शक्ति की दया-दृष्टि से हो जाएगी, इस आशा में बैठे रहना अपने आपको धोखा देना है।

आरंभ में तो बिना प्रयत्न किए सामान्य शील-पालन भी कठिन होता है। इसके लिए मन पर नियंत्रण और दमन का रास्ता ही अपनाना

पड़ता है। यह जानते हुए भी कि हर नियंत्रण और दमन हमारे अंतर्मन में एक ग्रंथि पैदा करता है, जो कि कभी भविष्य में उन्हीं विकारों को प्रजनन करने वाली होती है, जिनसे कि हम मुक्त हुआ चाहते हैं। परन्तु एक बार बाह्य शील-भंग होने से बचने मात्र के लिए हमें यह तरीका अपनाना ही पड़ता है, ताकि कुछ समय के लिए दुश्शीलों से छुटकारा मिले, जिससे कि हम मन को देर तक एकाग्र कर सकने का अभ्यास कर सकें। इस प्रकार प्रयत्न द्वारा प्राप्त की हुई चित्त की यह एकाग्रता हमें अन्तर्मुखी होकर विपश्यना द्वारा यथाभूत दर्शन कर सकने के योग्य बनाती है। जैसे-जैसे इस विपश्यना के अभ्यास में पुष्ट होते जाते हैं, वैसे-वैसे स्वभावतः मनोविकारों से छुटकारा मिलता जाता है और मन अपनी सहज स्वच्छता प्राप्त करने लगता है। मन को अपनी स्वाभाविक स्वच्छता प्राप्त हो जाय तो किसी प्रकार के दमन या नियंत्रण की आवश्यकता नहीं रह जाती। फिर तो सहज भाव से शील का पालन करना हमारे स्वभाव का एक अंग बन जायेगा। इस सहज स्वभाव को हासिल कर सकने के लिए आरंभ में कोई अभ्यास ही न करें, ऐसा मान बैठना भी समझदारी नहीं है। जिसको समुद्र में तैरने की उत्कंठा हो उसे पहले पहल किसी छोटे से तालाब में तैरना सीखने के लिए पानी में उतरना ही पड़ता है और उसका वह प्रारंभिक अभ्यास कष्टदायी ही होता है। कभी पानी आंखों में, तो कभी कानों में, तो कभी नासिकाओं में और कभी मुंह में भर जाता है और कभी-कभी तो लगता है जैसे डूब ही जाएगा। परन्तु इन तमाम कठिनाइयों का सामना करनेवाला वह तैरने का इच्छुक शिक्षार्थी अभ्यास करते-करते किसी दिन न केवल उस छोटे से तालाव में, वल्कि खूब चौड़े पाट वाली नदी में भी और अन्ततः समुद्र में भी सहज भाव से तैरने लगता है। अब उसे पानी के ऊपर सिर रखने में कोई प्रयास नहीं करना पड़ता। यही बात प्रत्येक साधक पर लागू होती है। प्रारंभिक अभ्यास की कठिनाइयों में से गुजर जाने के वाद जो स्थिति उपलब्ध होती जाती है, वह सहज साध्य होती है, स्वभाव का अंग वन जाती है। इसलिए

विपश्यना-साधना का अभ्यास तो तब तक करते ही रहना होगा जब तक कि वह सहज सिद्ध स्वभाव न बन जाय ।

विपश्यना के अभ्यास द्वारा हम वर्तमान क्षण में जीना सीखते रहें। वर्तमान में जीने का मतलब है–निर्वाण में जीना, मुक्त अवस्था में जीना। भूतकाल की स्मृतियां और भविष्य की कल्पना-कामनाएं हमारे वर्तमान को डुबोए रहती हैं। भूतकाल से पीछा तभी छूटे, जबकि चित्त पर से सारे संस्कार दूर हो जायँ। भविष्य से पीछा तभी छूटे, जबकि चित्त पर से सारे संस्कार दूर हो जायँ। भविष्य से पीछा तभी छूटे जबकि तृष्णाएं समाप्त हो जायँ ।

इसी अवस्था को प्राप्तकर भगवान बुद्ध के मुंह से हर्ष के उद्‌गार निकले, जिन्हें उदान कहते हैं। उदान के इन्हीं शब्दों में उन्होंने अपनी मुक्ति का सिंह-नाद करते हुए कहा :–

"यह चित्त नितांत संस्कार-विहीन हो गया। किसी भी बांधने वाले संस्कार का नाम लेश तक नहीं रहा और साथ ही साथ तृष्णा का पूर्णतया क्षय हो गया ।"

हर संस्कार हमारे भूतकाल की उपज है। भूतकाल की स्मृति है। भूतकाल की कड़ी है। अतः वर्तमान को भूतकाल से जोड़ने का काम करता है। वर्तमान क्षण के उत्पन्न होते ही वह भूतकाल के संस्कारों द्वारा दबोच लिया जाता है। बेचारा वर्तमान क्षण लुप्त हो जाता है, उस पर पूर्व संस्कारों का घटाटोप छा जाता है। इसी प्रकार हर तृष्णा आनेवाले क्षणों के प्रति हमारी आशा है, तपन्ना है, स्वर्णिम-स्वप्निल आकांक्षा है। जो कुछ अब नहीं है उसे पाने के लिए तृष्णा भविष्य की ओर आशा-भरी टकटकी लगाए रहती है और इस कारण वर्तमान क्षण के उत्पन्न होते ही उस पर छा जाती है। तुरंत उसका सम्बंध भविष्य के साथ जोड़ देती है। बेचारा वर्तमान फिर लुप्त हो जाता है। उस पर भविष्य की तृष्णाओं का घना कुहरा छा जाता है। जब तक संस्कार हैं और तृष्णाएं हैं, तब तक भूत

से छुटकारा नहीं, भविष्य से छुट्कारा नहीं। भूत और भविष्य से मुक्त होना संस्कारों और तृष्णाओं से मुक्त होना है। वही विशुद्ध वर्तमान क्षण का जीवन है, वही निर्वाण है, वही मुक्त अवस्था है, वही मोक्ष अवस्था है। उसे विपश्यना द्वारा प्राप्त किया जा सकता है।

आओ ! इस कल्याणकारी अवस्था को इसी जीवन में प्राप्त करें। विपश्यना के अभ्यास द्वारा पूर्व संस्कारों से पीछा छुड़ाएं। भविष्य के प्रति उत्पन्न होती रहने वाली तृष्णा से पीछा छुड़ाएं। निर्वाण में जीना सीखें। इसी में हमारा हित-सुख है, इसी में हमारा मंगल-कल्याण है।

मंगल हो !

क्षण क्षण क्षण क्षण बीतते, जीवन बीत [illegible]
क्षण क्षण का उपयोग कर, बीता क्षण न [illegible]

बीते क्षण तो चल दिए, आने वा[illegible]
यह क्षण आया सामने, कर प्रयोग [illegible]

समय बड़ा अनमोल है, समय न हाट [illegible]
तीन लोक संपद् दिए, बीता समय न पाय ॥

बीते क्षण में जी रहे, या जो आया नाय ।
इस क्षण में जीएं अगर, तो जीना आ जाय ॥

ना भविष्य की कल्पना, ना अतीत उलझाय ।
वर्तमान को देखकर, मुक्त-पुरुष मुसकाय ॥

भावी के बंधन कटें, भूत न बांधन पाय ।
वर्तमान में जो जिए, जीवन-मुक्त कहाय ॥

कल की क्यों चिंता करे, भावी या कि अतीत ?
वर्तमान क्षण चिन्त्य है, व्यर्थ न जाए बीत ॥

किसी एक क्षण भंग हो, सो क्षण-भुंगर नाय ।
क्षण क्षण क्षण जो भंग हो, क्षण-भुंगर कहलाय ॥

क्या नारी, क्या पुरुष, क्या युवा-वृद्ध, क्या बाल !
आठ पहर चौसठ घड़ी, पल पल निगले काल ॥

अंतर झांकी देख ली, कुछ भी शाश्वत नाय ।
यह जीवन सरिता सदृश, पल पल बहता जाय ॥

सतत् प्रवाहित हो रही, तन की मन की धार ।
यहां न स्थिर कुछ दीखता यह बहता संसार ॥

किसको मैं शाश्वत कहूं? नित्य? अचल? ध्रुव? सार ?
नष्ट होय ज्यों बुदबुदा, विषयों का व्यापार ॥

भटके भूत भविष्य में, मन दुखिया गमगीन ।
वर्तमान में जो जिए, तो होवे दुख क्षीण ॥

भावी क्षण की कल्पना, बीते क्षण की याद ।
वर्तमान क्षण छुट गया, कैसा चढ़ा प्रमाद !!

रहा विचरता भूत में, वर्तमान को छोड़ ।
भटका पुनः भविष्य में, इस क्षण से मुंह मोड़ ॥

औसर आयो धरम रो, मत सरका मत टाळ ।
कुण जाणै कल के हुवै? सिर पर बैठ्यो काळ ।।

पल पल छिन छिन जगत नै, रह्यो काळ गटकाय ।
पाका पाका झड़ गया, काचा पकता जाय ।।

पुण्य काम मत टाळ रै, मत कल पर सरकाय ।
कुण जाणै मोको इसो, कल आसी या नाय ?

कल की मीठी आस मँह, दीन्यो आज गंवाय ।
के बेरो कल, बावळा ! आसी भी या नाय ?

एक गिरै दूजी उठै, समदर लहर समान ।
चित धारा बहती रवै, सरित प्रवाह प्रमाण ।।

आंध्या उलझी बादळी, पल पल बिखरी जाय ।
पाणी का सा बुदबुदा, बण बण मिटता जाय ।।

बीत्या क्षण तो बीतग्या, सीस पकड़ क्यूं रोय ?
यो क्षण आयो सामनै, ईं नै भी क्यूं खोय ?

करी सुहाणी कल्पना, गढ़ गढ़ लियो अकास ।
बिन धरती बिन नींव कै, किसी क बांधी आस ?

गोद्यालै नै त्याग कर, करी पेट की आस ।
ठुकराई थाळी भरी, आसी हाथ निरास ॥

करै कल्पना दूर की, बरतमान नै त्याग ।
सोयो खोयो सपन महँ, जाग्यां जागै भाग ॥

पगतल की धरती छुटी, उड्यो कल्पनाकास ।
बरतमान सूं भटक कर, खोया होस-हवास ॥

पल छिन पल छिन बीततां, अवसर बीत्यो जाय ।
पल छिन सांसा निरखतां, लेवां सफल बनाय ॥

समय बड़ो अनमोल है, समय न हाट बिकाय ।
तीन लोक संपद दियाँ, बीत्यो समय न आय ॥

बीत्या दिन अब याद कर, क्यूं बिरथा अकुलाय ?
बीत्यो धन तो फिर मिलै, बीत्यो छण नहिं आय ॥

महाकारुणिक

मेरे प्यारे साधक-साधिकाओ !

धर्म-प्रज्ञा का चैतन्य सतत् जाग्रत रहे ! यह कुशीनगर है । यहीं भगवान तथागत सम्यक् सम्बुद्ध ने महापरिनिर्वाण प्राप्त किया । यही वह स्थान है, जहां महापुरुषों के ३२ लक्षणों से परिपूर्ण उनका वह सुहावना शरीर अग्नि को समर्पित किया गया ।

जन्म, जरा, व्याधि, मृत्यु । प्रकृति का कैसा अटल नियम । जन्म लेने वाला कोई भी प्राणी, जरा, व्याधि और मृत्यु से बच नहीं सकता, चाहे वह तथागत सम्यक् सम्बुद्ध ही क्यों न हो । परन्तु वह मृत्यु साधारण मृत्यु नहीं थी । उस मृत्यु द्वारा ही भगवान सम्यक् सम्बुद्ध ने मृत्युराज मार पर नितांत विजय प्राप्त की । वह उनकी अंतिम मृत्यु थी । अब उसके बाद कोई मृत्यु नहीं थी, क्योंकि उसके बाद और कोई जन्म भी तो नहीं था । जहां जन्म निरुद्ध हुआ, वहां जरा, व्याधि और मृत्यु का निरोध तो हो ही गया ।

ऐसी पावन धरती पर साधना-शिविर लगाते हुए मन अत्यंत आह्लाद-प्रह्लाद से भर उठा है । यहां की धरती के कण-कण में, यहां की वायु तरंगो की लहर-लहर में, सद्धर्म के अस्तित्व का एहसास होता है । अणु-अणु में उस महाकारुणिक की करुणा समायी दीखती है ? उस प्रेम-पारावार का असीम प्रेम छलकता नजर आता है और उस महान सत्यनिष्ठ की अचल सत्यनिष्ठा झलकती नजर आती है ।

करुणा, मैत्री और सत्य, इस त्रिवेणी का पावन संगम ही तो तथागत बुद्ध कहलाता है । इन तीनों के समुच्चय का व्यक्तिकरण ही तो सम्यक् सम्बुद्ध हैं । बुद्ध माने मूर्तिमंत करुणा । बुद्ध माने मूर्तिमंत मैत्री-प्रेम । बुद्ध माने मुर्तिमंत सत्य । यहां भगवान की यह त्रिमूर्ति बारबार मन की आंखों

के सामने आने लगती है।

उनकी असीम करुणा की एक नन्हीं सी लहर ने मन-मानस में अंगड़ाई ली और सारा हृदय करुण रस से परिप्लावित हो उठा, सराबोर हो उठा।

अढ़ाई हजार वर्ष पुराना वह दृश्य आंखों के सामने जाग उठा। भगवान ने अपने शरीर त्यागने की निश्चित तिथि तीन माह पूर्व घोषित की और अब पूर्व निर्धारित स्थान पर शरीर छोड़ने के लिए यात्रा कर रहे हैं। शरीर छोड़ने का दिन आ पहुंचा है। भगवान की यात्रा जारी है। रास्ते में चुंद नामक लुहार ने भगवान को अत्यंत श्रद्धापूर्वक भोजन के लिए आमंत्रित किया। परन्तु भोजन भारी था, गरिष्ठ था। अतः तथागत के बूढ़े रोगी शरीर के लिए अपच्य साबित हुआ, कष्टदायक साबित हुआ। उन्हें पेचिस हुई। शरीर अधिक दुर्बल हो गया। मृत्यु-शय्या पर लेटे हुए उस करुणामय के मन में एक बात जागी। जब श्रद्धालु चुंद को यह मालूम होगा कि उसके गरिष्ठ भोजन के कारण भगवान को शरीर त्यागना पड़ा तो वह दुख से व्याकुल हो उठेगा। नासमझ लोग उसे धिक्कारेंगे कि उसने भगवान को कैसा भोजन खिलाया और कितना पाप कमाया। यह धिक्कार सुनकर वह व्यथा-वेदना से और भी पीड़ित हो उठेगा। इस चिन्तन मात्र से उन महाकारुणिक का हृदय करुणा-विगलित हो उठा और उन्होंने आनंद से कहा– "आनंद ! ध्यान रखना, उस श्रद्धालु उपासक चुंद के मन में किसी प्रकार की दुश्चिंता जागने न पावे। मेरे कारण वह दुखी होने न पावे। उसे समझाना कि तुम्हारा यह भोजन-दान तुम्हारे लिए पाप का नहीं, बल्कि बड़े पुण्य का कारण बना है। जिस भोजन को ग्रहण कर तथागत ने पापी मार पर विजय प्राप्त की और सम्यक् सम्बोधि पायी, सुजाता की खीर का वह भोजन-दान जैसे सुजाता के लिए असीम पुण्य का कारण बना, वैसे की तुम्हारे इस भोजन को ग्रहण कर तथागत अनुपादिशेष निर्वाण धातु को प्राप्त हुए हैं, सदा के लिए मृत्युराज मार के चुंगल से मुक्त हुए हैं, अतः तुम्हारा भोजन भी सुजाता

की खीर से कम पुण्यदायी नहीं है, कम फलदायी नहीं है। आनंद ! ऐसा कहकर चुंद के मन की उदासी दूर करना। उसे उत्साहित करना।"

धन्य है तथागत की महान करुणा ! मृत्यु-शय्या पर भी उन्हें कोई चिंता है तो इसी बात कि उनकी वजह से किसी का मन दुखी न हो। उनकी असीम करुणा किसी को दुखी देख ही नहीं सकती थी।

उसी समय की एक अन्य घटना। भगवान के अतुल मैत्री-प्रेम की प्रकाश-किरण मानस-पटल पर चमक उठी। भगवान युग्म शाल वृक्षों के नीचे बिछी हुई संघाटी पर अत्यंत रुग्ण अवस्था में लेटे हुए हैं। वैशाखी पूर्णिमा का उदास चांद सारे वातावरण में उदासी बिखेरता हुआ अस्ताचल की ओर लुढ़कता चला जा रहा है। भगवान के परिनिर्वाण का समय समीप आता जा रहा है। श्रद्धालु उपासकों की भीड़ तथागत के अंतिम दर्शन करने के लिए उमड़ रही है। उसी समय सुभद्र नाम का एक नया मुमुक्ष भगवान से धर्मलाभ हासिल करने के लिए आता है परन्तु आनंद उसे दूर से ही यह कहकर रोकता है कि भगवान बहुत थके हुए हैं, उन्हें कष्ट न दो। आनंद की आवाज भगवान के कानों में पड़ती है। वह करुणा-विह्वल हो उठते हैं। प्यासा अपनी प्यास बुझाने के लिए धर्म-गंगा के पास आया है और तट तक पहुंचने पर भी कोई उसे पानी पीने से रोक रहा है। उसकी लाचारी देखकर धर्म-गंगा स्वयं मचलने लगी। उसमें प्रेम और करुणा का ज्वार उठने लगा। आनंद को टोकते हुए मैत्री-मूर्ति भगवान तथागत ने कहा– "आनंद ! मत सुभद्र को मना करो ! उसे आने दो ! वह मुझे कष्ट देने नहीं आया है। सच्चा धर्म-जिज्ञासु है। थोड़े में ही धर्म का रहस्य समझ लेगा। उसे मत रोको, उसे मेरे पास आने दो !"

और इस प्रकार अपने जीवन के अंतिम क्षणों तक भी, अपने कष्टों की जरा भी परवाह न करते हुए, मैत्री के अनंत सागर ने उस धर्म-जिज्ञासु को धर्म-देशना दी, सच्चे धर्म का मार्ग सिखाया, जो कि उसके हित-सुख का कारण बना। उनके अंतर का अपरिमित पारावार, मंगल-मैत्री का

असीम सागर, जीवन की अंतिम सांस तक भी प्राणियों की अथक सेवा के लिए उद्वेलित होता रहा। मंगल-धर्म बांटने में उन्हें थकान कहां ? इससे विमुख होकर उन्हें आराम कहां ? विश्राम कहां ?

और तभी मानस-पटल पर उभर उठा उनकी सत्यनिष्ठा का एक और पावन प्रसंग। अन्तरर्मन में गूज उठे, आखिरी सांस छोड़ने के पहले उनकी अंतिम वाणी के ये अनमोल बोल– '**वयधम्मा सङ्खारा, अप्पमादेन सम्पादेथ।**' हे भिक्षुओ ! सुनो, सारे संस्कार व्यय-धर्मा हैं, मरण-धर्मा हैं, नष्ट-धर्मा हैं। जितनी भी संस्कृत याने बनी हुई वस्तुएं हैं; व्यक्ति हैं, घटनाएं हैं, स्थितियां हैं, वे सब नश्वर हैं, भुंगर हैं, मरणशील हैं, परिवर्तनशील हैं। यही प्रकृति का कठोर सत्य है। प्रमाद से बचते हुए, आलस्य से दूर रहते हुए, सतत् सतर्क और जागरूक रहते हुए, प्रकृति के इस सत्य का संपादन करते रहो। इस सत्य में स्थित रहकर अपना कल्याण साधते रहो।'

कैसी थी मानव-जगत को भगवान तथागत की यह अनुपम, अनमोल, अंतिम भेंट ! कैसी थी यह मूल्यवान विरासत ! कैसा था यह अनुत्तर दायाद ! कैसा था यह मंगल-धर्म का अनोखा अनमोल उपहार !

उस महान सत्य-निष्ठ ने जीवन भर स्वयं सत्य का संपादन किया और लोगों को भी सत्य-दर्शन के लिए ही प्रेरित, प्रोत्साहित किया। यह सारा ऐंद्रिय जगत, यह नाम और रूप की सम्मिलित जीवनधारा, यह शरीर और मन का मिला-जुला सरितप्रवाह, कितना क्षणभुंगर है ! कितना नश्वर है ! कितना परिवर्तनशील है ! क्षण-क्षण परिवर्तित होने वाली इस प्रवाहसंतति को प्रतिक्षण निर्विकार, निरासक्त भाव से देखते रहने का नाम ही तो विपश्यना है। यही सत्य का शुद्ध दर्शन है। इसी में विमुक्ति का मंगल समाया हुआ है।

बिना प्रमाद में डूबे हुए हम भी इस सत्य का दर्शन करते रहें और अपने जीवन के अंतिम लक्ष्य का संपादन करते रहें ! काया, वेदना, चित्त

और धर्म की विपश्यना साधना द्वारा इस सत्य का साक्षात्कार करते रहें ! अनित्य, दुख और अनात्म का साक्षात्कार करते रहें! प्रज्ञा जाग्रत रखते रहें ! विपश्यना साधना की यह जागृति जीवन का अंग बन जाय ! स्वभाव का अंग बन जाय ! भगवान के ये अंतिम शब्द निरंतर हमारी प्रेरणा का कारण बनते रहें ! इससे बढ़कर और क्या उद्बोधन होगा भला ?

वयधम्मा सङ्खारा,
अप्पमादेन सम्पादेथ !
अप्पमादेन सम्पादेथ !
अप्पमादेन सम्पादेथ !

उनके बताए हुंए मार्ग पर चलकर हममें भी उनकी सी अनंत करुणा जागे । हममें भी उनकी सी अनंत मैत्री जागे । हममें भी उनकी सी अविचल सत्य-निष्ठा जागे । इसी में हमारा मंगल ! इसी में हमारा भला ! इसी में हमारा कल्याण ! इसी में हमारी स्वस्ति ! इसी में हमारी मुक्ति !

भवतु सब्ब मंगलं !

चरथ भिक्खवे चारिकं

वाराणसी राज्य के ऋषिपत्तन मृगदाय नामक स्थान में, जिसे कि आज सारनाथ कहते हैं, भगवान तथागत सम्यक् सम्बुद्ध ने पहले पहल धर्मचक्र-प्रवर्तन कर पांच भिक्षुओं को विमुक्ति रस का पान करवाया। वे पांचों भगवान के प्रथम शिष्य कृतकृत्य हुए, अर्हन्त हुए, जीवन-मुक्त हुए ।

तत्पश्चात् वाराणसी का यश नामक एक धनवान श्रेष्ठिपुत्र भगवान के संपर्क में आया। वह साहूकार का लड़का अनेक सुख-साधन से संपन्न होते हुए भी मानसिक उद्विग्नता का शिकार था। वैभव-विलास के जीवन से ऊब चुका था। धन संपदा में उसे कोई शांति नहीं दीखती थी। भगवान के संपर्क में आने पर उसने धर्म-साधना का अभ्यास किया तो वह वास्तविक सुख शांति का अधिकारी बन गया। थोड़े समय के ही अभ्यास द्वारा वह भी अर्हन्त हुआ, जीवनमुक्त हुआ । उसके चित्त की शांति देखकर उसके चार अन्य धनी घनिष्ठ मित्र भी शांति-लाभ के लिए भगवान के पास आये और वे भी कृतार्थ हुए। इस घटना ने श्रेष्ठि-पुत्र यश की सारी मित्र मंडली में एक सनसनी पैदा कर दी। अपार भौतिक संपदा के उपभोग से ऊबे हुए अशांत, बेचैन, श्रेष्ठि-कुमार भगवान की शरण आने लगे। ऐसे ५० युवकों ने धर्म-साधना का अभ्यास कर अर्हत्व प्राप्त किया और अपना जीवन सफल बनाया ।

इन ६० अर्हन्त भिक्षुओं की मंडली के साथ भगवान ३ महीने वर्षा के दौरान उसी क्षेत्र में विहार करते रहे। साठों भिक्षु धर्म-अभ्यास में पूर्णतया परिपक्व हो गये। तब वर्षावास पूरा होते ही भगवान ने उन्हें आदेश दिया– 'अब एकांत में रहने की आवश्यकता नहीं। अब तो समाज में रहो और उसकी सेवा करो। इसलिए विचरण करो। साठों भिक्षु

अलग-अलग स्थानों की यात्रा पर निकल पड़ो। किसी स्थान पर एक साथ दो भिक्षु मत जाओ, जिससे कि अधिक से अधिक स्थानों में सद्धर्म का प्रकाश फैले, अधिक से अधिक लोगों का कल्याण हो। चलते रहो। चलते रहो। धर्म-चारिका करते रहो। अनेक लोगों के हित-सुख के लिए, अनेक लोगों के कल्याण-मंगल के लिए, लोगों पर अनुकम्पा करते हुए, सत्य-धर्म का प्रकाशन करते हुए चलते ही रहो ! चलते ही रहो !'

अपने भीतर धर्म पक जाने के बाद यह स्वाभाविक ही था कि उन भिक्षुओं के मन में अपरिमित करुणा जागी, मैत्री जागी, लोक-कल्याण की भावना जागी ! और अब भगवान से प्रेरणा पाकर वे लोगों के हित के लिए, सुख के लिए, लाभ के लिए, मंगल के लिए, देश भर में धर्म-चारिका करने निकल पड़े। सर्वत्र लोग दुखी ही दुखी हैं। शारीरिक पिड़ाओं से उत्पीड़ित हैं। मानसिक उत्तेजनाओं से उत्तप्त हैं। उन्हें धर्म का लाभ मिले। वे दुख से मुक्त हों। वे सच्ची सुख-शांति का रसास्वादन कर सकें। ऐसा धर्म जिसका कि उन्होंने स्वयं अभ्यास किया। ऐसा अभ्यास जिससे कि उन्होंने स्वयं अपने दुखों का नितांत उन्मूलन कर लिया। यह अभ्यास सभी मनुष्यों के लिए समान रूप से हितकर है। अतः सभी मनुष्यों को सहज सुलभ होना ही चाहिए। सभी लोग दुःखों से संत्रस्त हैं और ऊपर से भिन्न-भिन्न दीखनेवाले सभी दुःखों का मूल कारण तो एक ही है। अतृप्ति के परिवेश में अपनी ही तृष्णाओं के प्रति गहरा खिंचाव, गहरा लगाव, गहरी आसक्ति ही दुख है, दुख की जड़ है। कोई ऐसी विधि हाथ लगे कि जिसके अभ्यास से आसक्तियां टूटें तो जड़ के उन्मूलन होते ही दुखों का अपने आप खात्मा हो जाय। इन ६० दुखी लोगों ने अपने कल्याण-मित्र से, अपने धर्म-शास्ता से, उन महान कारुणिक भगवान बुद्ध से, यही धर्म-साधन तो सीखा था, जिसके कि अभ्यास से उनकी आसक्तियां टूटीं, उन्हें स्वयं अपने-अपने दुखों से छुटकारा मिला। वे स्वयं अनासक्त हो जीवन-मुक्त हुए। अब वही सहज सरल विधि दुख-संतप्त लोगों तक पहुंचाने के लिए ये ६० भिक्षु निकल पड़े। सच ही तो है,

उस महान कारुणिक द्वारा बताए हुए पथ का अवलंबन लेकर जो व्यक्ति स्वयं दुखविमुक्त होता है, वह इस लोक मंगल-कारिणी करुण भावना से कैसे दूर रह सकता है भला ? यह असंभव है कि कोई अपने आपको मुक्त कर ले और फिर उस विमुक्ति-सुख में ही अपना शेष जीवन किसी एकांत निर्जन स्थान में बिताए। स्वयं भगवान् ने भी तो ऐसा नहीं किया। सम्यक् सम्बोधि प्राप्त कर केवल सात सप्ताह विमुक्ति-सुख में अकेले बैठे रह सके। परन्तु उसके बाद तो लोकहित के लिए ऐसी धर्म-चारिका आरंभ की कि जीवन के शेष ४५ वर्षों तक सतत् लोकहित में ही निमग्न रहे। जीवन की अंतिम घड़ियों तक भी, बिना विश्राम किये हुए, दुखी संतप्त लोगों के दुख दूर करने के लिए धर्म-गंगा का शीतल जल बांटते ही रहे। ऐसे करुणागार के मार्ग का अवलंबन करनेवाला प्रत्येक भिक्षु किसी निर्जन वन में रहकर अपना सारा जीवन कैसे बिता सकता है ? उसके लिए तो समाज में ही रहकर, समाज की अथक सेवा में ही आजीवन लीन रहना समीचीन है और यही आदर्श उन प्रारम्भिक ६० भिक्षुओं ने अपनाया, जो कि भावी धर्मदूतों के लिए भी प्रकाश-स्तंभ बना।

इन ६० भिक्षुओं को अलग-अलग स्थानों पर धर्मचारिका पर भेजकर स्वयं भगवान भी इसी उद्देश्य से धर्मचारिका पर निकल पड़े। सभी ने मंगल-धर्म को प्रकाशित किया। कैसे प्रकाशित किया ? केवल शब्दों द्वारा ही नहीं, बल्कि उन शब्दों के अर्थ और भाव सही प्रकार से समझाते हुए। शब्दों के अर्थ और भाव समझाने का एकमात्र तरीका यही होता है कि वे अर्थ और भाव समझाने वाले के स्वयं के जीवन में उतरें। यही उन शब्दों की सही अभिव्यक्ति है, सही अभिव्यंजना है।

ऐसा है यह मंगल-धर्म, जिसे कि आदि में कल्याणकारी, मध्य में कल्याणकारी और अंत में कल्याणकारी कहा गया। ऐसा है यह मंगल-धर्म जिसमें केवल मात्र विशुद्धि ही विशुद्धि है। जो कि परम परिशुद्धि की परिपूर्णता है, जिसमें कि अशुद्धि के लिए रंचमात्र भी अवकाश नहीं है। जो कि कल्याण-मंगल का साकार स्वरूप है और सत्य का सार तत्त्व है,

जिसमें कहीं कोई घास-फूस नहीं, कोई छिलका नहीं, किंचित् मात्र भी मिथ्या कल्पना नहीं, मिथ्या आश्रय नहीं । विरज, विमल, विशुद्ध ही विशुद्ध । जिसमें अंध भावावेश के लिए अथवा कोरे सैद्धान्तिक तर्कों और बुद्धिविलास के लिए कोई स्थान नहीं । पूर्णतया व्यावहारिक ही व्यावहारिक । और व्यावहारिक भी ऐसा कि मानव मात्र के लिए समान रूप से ग्रहणीय, समान रूप से उपादेय । इसके अभ्यास के लिए किसी वर्ग या सम्प्रदाय में दीक्षित व अनुबद्ध होने की भी आवश्यकताा नहीं । गौ का दूध जो पिये उसी के लिए पुष्टिकारक । सम्पूर्णतया सम्प्रदाय-निरपेक्ष धर्म। दुखी को दुख-विमुक्त बनाने वाला, रोगी को निरोग बनाने वाला, अशांत को शांत बनाने वाला, पतित को पावन बनानेवाला, निर्बल को बलवान बनाने वाला, भयभीत को निर्भय बनाने वाला, निर्दय को दयालु बनाने वाला, दुर्जन को सज्जन बनानेवाला । थोड़े मे कहें तो प्रत्येक मानवदेहधारी को सच्चा मानव बनाने वाला ।

यही है वह आठ अंगों वाला धर्म-मार्ग, जिस पर चलकर बुद्ध सहित ये ६० व्यक्ति नितांत दुख-विमुक्त हुए, परम परिशुद्ध हुए । यह आठ अंगों वाला पथ जो कि ३ भागों में विभाजित है--शील, समाधि और प्रज्ञा।

शील याने सदाचार, याने वाणी और शरीर के दुष्कर्मों से बचना । समाधि याने चित्त को संयमित करना और प्रज्ञा याने विपश्यना के अभ्यास द्वारा ऐसी सही दृष्टि प्राप्त करना जिससे कि सारी मोह-विमूढ़ता दूर हो जाय और चित्त में समाए हुए राग और द्वेष के सारे संस्कार जड़ से उखड़ जायँ और इस प्रकार निर्मल हुआ चित्त असीम मैत्री और करुणा से भर उठे, जिससे कि साधक न केवल अपना ही कल्याण साधे, बल्कि औरों के भी कल्याण का कारण बने । आत्म-हित और पर-हित का सर्व-जन-हितकारी मंगलमय समन्वय । आत्मोदय और सर्वोदय का कल्याणकारी संगम ।

तीन महीने के प्रथम वर्षावास के बाद आज के ही दिन 'चरथ

भिक्खवे चारिकं' का यह मंगल-घोष इस धरती पर पहले पहल गूंजा था। हमारे लिए भी यह प्रेरणा का कारण बने। सद्धर्म से विशुद्धि प्राप्तकर हमारा चित्त भी मैत्री और करुणा से भरे। यदि इस मार्ग से हमें भी सचमुच लाभ हुआ है तो हम भी अपनी-अपनी शक्ति के अनुसार, अपने-अपने सामर्थ्य के अनुसार सर्वजन के हित-सुख के लिए, मंगल-कल्याण के लिए जुट जायं! धर्म का उद्देश्य केवल आत्म-हित ही नहीं है। केवल आत्मोदय ही नहीं है। आत्महित साधकर पर-हित में लगना, आत्मोदय साधकर सर्वोदय में लगना यही धर्म की सच्ची प्रेरणा है, जो कि हम सब साधकों में जागे! हमारे सत्प्रयत्नों से अधिक से अधिक लोग दुख-विमुक्त होकर शांतिलाभी बनें! यही जीवन-लक्ष्य हो। प्रेरणामयी पूर्णिमा का सबके लिए यही पावन सन्देश है।

मंगल हो!

प्रकाश-पर्व

मेरे प्यारे साधक, साधिकाओ !

प्रज्ञा की ज्योति जगमगाती रहे !

दीपक का प्रकाश बाहर के अंधेरे को दूर करता है। सचमुच बड़ा उपयोग है इसका। परन्तु दीपक का प्रकाश हमारे भीतर के अन्धेरे को दूर नहीं कर सकता। बाहर का अंधकार बड़ा अप्रिय है, बड़ा हानिकारक है। परन्तु भीतर का अंधकार उससे हजारों गुना अधिक अप्रिय है, अधिक हानिकारक है। हमारा महत् कल्याण तो भीतर का अंधकार दूर करने में है।

क्या है यह भीतर का अंधकार ? यह जो मूढ़ अवस्था है, मोह अवस्था है, अज्ञान अवस्था है, यही अविद्या है, यही भीतर का अंधकार है। इसके कारण राग उत्पन्न होता है, और जहाँ राग है वहां द्वेष होगा ही।

यह राग और यह द्वेष ही हमारे मन में अनेक प्रकार के विकार उत्पन्न करते हैं। भय, आशंका, क्रोध, घृणा, ईष्या, मात्सर्य, लोभ, लोलुपता आदि सभी मनोविकार राग और द्वेष की ही उपज हैं। सभी अविद्या के अंधकार में पनपते हैं। जहां भय है, आशंका है, क्रोध है,घृणा है, ईर्ष्या है, मात्सर्य है, लोभ है, लोलुपता है वहां सुख कहां ? शान्ति कहां ? चैन कहां ? इन मनोविकारों से छुटकारा पाने में हमारी मुक्ति है, हमारा मंगल है, हमारा कल्याण है।

इन्हें दूर करने के लिए इनकी जड़ को उखाड़ फेंकना होगा। अविद्या के अंधकार को हटाना होगा और वह होगा प्रज्ञा के प्रकाश से ही, विद्या के विवेक से ही। प्रज्ञा-प्रदीप को सदैव प्रज्वलित रखने के लिए जागरूकता का अभ्यास करते रहना होगा। प्रज्ञा में स्थित रहने के लिए सदा सचेत

रहने का अभ्यास करते रहना होगा। दुष्प्रज्ञता की बेहोशी दूर करने के लिए सदा होश ठिकाने रखने होंगे। सदा जागरूक रहना ही ऐसा प्रकाश है जो कि अविद्या के अंधकार को दूर करता है और सारे मनोविकारों की गांठें खोल कर हमें बंधन-मुक्त बनाता है।

बीती हुई बातों की याद में व्याकुल रहना जागरूकता नहीं है। जागरूकता है इस क्षण के प्रति सचेत रहने में। इस क्षण के प्रति सचेत रहना ही विपश्यना है। विपश्यना का अभ्यास जागरूकता का ही अभ्यास है। यह अभ्यास निरन्तर चालू रहना चाहिए जिससे हमारा अन्तर्मन अविद्या के अंधकार से सदा दूर रहे और प्रज्ञा की दीपमालाओं से सदा जगमगाता रहे। प्रज्ञा में स्थिर रह कर यदि हम सच्चे सन्त बन जायँ तो सदा दीवाली मनती रहे। आठों पहर अन्तर्मन प्रज्ञा के प्रकाश से जगमगाता रहे। यही सच्चा प्रकाश-पर्व है। हमारे मंगल का आदि मूल। हमारे कल्याण का सही कारण।

दीवाली के अवसर पर हम अपना घर-आंगन झाड़-बुहार कर स्वच्छ सुन्दर बनाते हैं। इसे सजाते हैं, संवारते हैं। शरीर भी रगड़-रगड़ कर धोते हैं। इसे साफ सुथरा बना कर वस्त्रों से, आभूषणों से अलंकृत करते हैं। बाहर की यह सफाई-सजाई अच्छी है, काम की भी है। परन्तु इससे कहीं ज्यादा अच्छी और कहीं ज्यादा काम की सफाई-सजाई तो हमारे अन्तर्मन की है, जो कि कूड़े-करकट से, झाड़-झंखाड़ से, धूल-गर्दे से, जाले-जंजालो से भरा पड़ा है। जब तक भीतर की गन्दगी दूर न कर ली जाय तब तक केवल बाहर की सफाई-सजाई सच्चा सुख और शान्ति नहीं दे सकती।

मन की गन्दगी क्या है? मन की गन्दगी मोह है, मन की गन्दगी राग है, मन की गन्दगी द्वेष है। मन की ये गन्दगियां अन्य अनेक गन्दगियों को अपनी ओर खैंचती रहती हैं। जब तक मन में राग, द्वेष और मोह के जाले लटक रहे हैं तब तक अनेक मनोविकारों का धूल-धूसर इन पर जमता ही

रहेगा। बाहर-बाहर की सफाई मन के भीतर लटकते हुए इन धूल भरे जालों को दूर नहीं कर सकती। मन को स्वच्छ-साफ नहीं रख सकती। और जब तक मन स्वच्छ-साफ न हो तब तक सच्चे सुख, शांति और समृद्धि की आशा करनी व्यर्थ है।

विपश्यना साधना द्वारा याने सत्य के प्रति सतत् जागरूक रहने के अभ्यास द्वारा मन को स्वच्छ-साफ कर लेने के बाद ही उसका सजाव-सिंगार किया जा सकता है। मन की सजावट होती है मैत्री और करुणा के अलंकारों से। सत्य का सहारा लेकर मन को असीम प्रेम और करुणा के भावों से ओत-प्रोत कर लें, यही मन की सच्ची सफाई-सजाई है और इसी में हमारा सच्चा मंगल है।

कहीं ऐसा न हो जाय कि हम बाहरी-बाहरी सफाई-सजाई में ही सन्तोष मान कर रह जायं। सफाई मन की हो, सजाई मन की हो। मन की यह सफाई-सजाई किसी विशेष त्योहार के दिन ही नहीं बल्कि नित्य प्रति होती रहनी चाहिए। अपने शरीर को रोज स्वच्छ साफ रखना चाहिए। अपने घर आंगन को रोज साफ सुथरा रखना चाहिए। जितना यह आवश्यक है उससे कहीं ज्यादा आवश्यक यह है कि अपने मन को भी धो-पोछ कर निर्मल बनाए रखना चाहिए। दीवाली की सजाई रोज होनी चाहिए। बाहर और भीतर की स्वच्छतां के प्रति हमारा उत्साह कभी मन्द नहीं पड़ने पाए। आन्तरिक स्वच्छता और सजावट के लिए विपश्याना की बुहारी मन के जालों को दूर करती रहे। मैत्री भावना का अभ्यास उसे सदा सजाता रहे। ऐसी दीवाली हम रोज मनाते रहें। इसी में हमारा सच्चा कल्याण है! सच्चा मंगल है! सच्चा भला है!

भवतु सब्ब मंगलं।

मैत्री जागी बुद्ध में, अतुलित अमित अपार ।
हममें भी जागे जरा, तो पाएं सुख सार ।।

करुणा जागी बुद्ध में, अतुलित अमित अपार ।
हममें भी जागे जरा, तो पाएं सुख सार ।।

सत्य समाया बुद्ध में, अतुलित अमित अपार ।
हममें भी जागे जरा, तो पाएं सुख सार ।।

सत्य हमारा धर्म है, सत्य हमारा ईश ।
सत्य छोड़ किस कल्पना, को धारें हम शीश ?

सत्य बोल मानव सदा, सत्य धर्म का माप ।
झूठ बोल किसको ठगे ? ठगता अपना आप ।।

मान रहा जो सत्य को, आस्तिक वही सुजान ।
न माने जो सत्य को, नास्तिक वही अजान ।।

सत्य-धर्म दर्शन हुए, मिटे आत्म-अभिमान ।
मिले अपरिमित शान्ति-सुख, सत्य-धर्म के ज्ञान ।।

सत्य-धर्म जाग्रत हुआ, मिटी मोह की रात ।
अंधकार को चीरकर, उज्ज्वल उगा प्रभात ।।

रंग गाय का भिन्न है, दूध भिन्न ना होय ।
संप्रदाय होवें जुदा, धरम जुदा ना होय ।।

मंगल पथ है धरम का, करे जगत कल्याण ।
कदम कदम जो भी चले, पावे पद निर्वाण ।।

शुद्ध धर्म करता नहीं, जात पांत का भेद ।
सबको ही निर्मल करे, होवे श्याम सफेद ।।

दान शील श्रद्धा जगे, प्रज्ञा जगे प्रगाढ़ ।
लोक और परलोक में, आए सुख की बाढ़ ।।

दुखियारों से जग भरा, सुखिया दिखे न कोय ।
धरम जगे तो सुख जगे, दुखिया रहे न कोय ।।

धन्य धर्म ऐसा मिला, धुले चित्त के चीर ।
देखत देखत मिट गयी, तन की मन की पीर ।।

संप्रदाय का धर्म से, होवे मेल न जोल ।
एक बांधता ग्रंथियां, दूजा देवे खोल ।।

चल साधक चलता रवां, जन सेवा रै काम ।
इब क्यां को आराम है, इब क्यां को बिसराम ॥

जण जण री सेवा करां, यो जीवन रो ध्येय ।
यो ही म्हारो श्रेय है, यो ही म्हारो प्रेय ?

चल भिक्खू चलता रवां, अबै कठै बिसराम ?
बहुजन हित-सुख कारणै, है आराम हराम ॥

आदि मांय कल्याण है, मध्य मांय कल्याण ।
अंत मांय कल्याण है, धर्म दियो भगवान ॥

गंगा जमुना सुरसती, सील समाधी ग्यान ।
तीना रो संगम हुयां, प्रगटै पद निरवाण ॥

सील धरम पालन भलो, निस्चल भली समाधि ।
प्रग्या तो जाग्रत भली, दूर करै भव ब्याधि ॥

तीन बात बंधन बँध्या, राग द्वेष अभिमान ।
तीन बात बंधन खुल्या, सील समाधी ग्यान ॥

करुणा किरणा फूटरी, मैत्री अमित अपार ।
जीवन महँ जागै इसो, पावन बुद्ध-बिहार ॥

सील समाधी ग्यान रो, पायो पथ अनमोल ।
पाप छूटग्यो, धरम को, पीवां इमरत घोल ॥

संपद आयां सत्पुरुस, र वै बिनम्र बिनीत ।
जीं डाली पर फल लगै, झुकनै की ही रीत ॥

धरम न दूजो हो सकै, धरम सनातन एक ।
मत मतांतरां उलझग्यो, बणग्या धरम अनेक ॥

आ तो गंगा निरमली, मुक्त होय जो न्हाय ।
धरम न कीं कै बाप को, जो धारै सो पाय ॥

आयी बेटी लाडली, पीवरियै री पोळ ।
बाबुल दीन्यो दायजो, धरम रतन अनमोल ॥

आयो बेटो लाडलो, बापू रै दरबार ।
बापू दीन्यो प्यार सूं, धरम रतन भंडार ॥

चेहरा खिलग्या फूल सा, आयी निरमल कांति ।
अन्तरतम तक छा गयी, किसी, क सीतल सांति ॥

विजय-पर्व

विजय-पर्व मनाने का एकमात्र उद्देश्य यही होना चाहिए कि किसी की विजय को याद कर हम भी विजयी बनने की प्रेरणा प्राप्त करें और प्रयत्नशील होकर स्वयं विजयी बनें। किसी की विजय का गुणगान गा लेने मात्र से अथवा जशन मना लेने मात्र से, खुशियां मना लेने मात्र से हमें क्या मिला ? हमारा लाभ तो स्वयं विजयी बनने में है। किसी ने अपने दुश्मनों पर विजय पायी और फलस्वरूप उन दुश्मनों के अत्याचारों से मुक्त होकर सुखी हो गया। इससे हमें सुख कैसे मिला ? हम तो तभी सुखी होंगे जबकि स्वयं अपने दुश्मनों का खात्मा कर लेंगे , अपने दुश्मनों के अत्याचारों से मुक्ति पा लेंगे ।

भगवान बुद्ध ने अपने दुश्मन पर विजय पायी। उनका दुश्मन था मार याने मृत्युराज। यह हम सब का भी दुश्मन है। मृत्युराज के चंगुल से निकलना सचमुच बड़ा ही कठिन काम है। राग, रति और तृष्णा उसकी बेटियां हैं। इन बेटियों के बल पर यह सभी लोगों पर अपना अधिकार जमाए हुए है। सभी प्राणी राग, रति और तृष्णा के आधीन हैं। बार बार इन वासनाओं के जाल में उलझ कर जन्म लेते हैं और बार-बार मृत्यु के मुंह में पड़ते हैं। भगवान बुद्ध की यही सम्यक् सम्बोधि थी, यही उनकी विमुक्ति थी कि उन्होंने तृष्णा, राग, रति को जड़ से उखाड़ कर फेंक दिया और मृत्युराज को निरुपाय कर दिया,निहत्था, निःशस्त्र, निर्बल कर दिया और परास्त कर दिया। अब बुद्ध के लिए न बार-बार का जन्म रह गया और न बार-बार की मृत्यु रह गयी। वह मार (मृत्यु) के वन्धनों से मुक्त हो गये ।

बुद्ध ने मार को परास्त कर दिया, बुद्ध ने मार पर विजय प्राप्त कर ली, इसलिए हम खुशियां मनाएं और बुद्ध के गुणगान गाएं तो इससे हमें

क्या मिल जाने वाला है ? क्या इससे हम भी मुक्त हो जाएंगे ? क्या इससे हम भी मृत्यु के चुंगल से छुटकारा पा लेगें ? क्या इससे हम भी अमृत-पद प्राप्त कर लेंगे ? यदि ऐसा होता तब तो विजय की खुशियां मनानी अवश्य सार्थक होती। परन्तु ऐसा होता कहां है ? यदि बुद्ध द्वारा मार को जीत लेने पर सारी दुनिया सदा के लिए मृत्यु के चंगुल से छुटकारा पा चुकी होती तब तो यह खुशियां मनाई जानी अवश्य माइने रखती। परन्तु ऐसा तो हुआ नहीं, ऐसा कभी होता भी नहीं। सभी लोग मृत्यु के आधीन हैं, क्योंकि सभी लोग तृष्णा के आधीन हैं। तो खुशियां किस बात की ? अमृत तत्त्व प्राप्त करने के लिए तो एक-एक को स्वयं अपनी लड़ाई लड़नी होगी। स्वयं अपने भीतर समाई हुई तृष्णा को नेस्त नाबूद करना होगा, उसे जड़ से उखाड़ना होगा। तभी विजय मिलेगी, तभी मुक्ति मिलेगी। बुद्ध की विजय बुद्ध के लिए मुक्तिदायिनी साबित हुई। इसी प्रकार एक-एक व्यक्ति की अपनी विजय ही उसके लिए मुक्तिदायिनी साबित होगी। हाँ, किसी अन्य की विजय, किसी अन्य की मुक्ति हमारे लिए प्रेरणा का कारण अवश्य बननी चाहिए, हमारे लिए मार्ग-निर्देशिका अवश्य बननी चाहिए। हम भी उसी मार्ग को अपनाएं जिसे अपनाकर कोई व्यक्ति विजयी बना, मुक्त बना। हम भी उसी रास्ते पर चल कर विजयी बनें, मुक्त बनें। तभी विजय-पर्व मनाने का अर्थ है, कोई लाभ है, कोई मतलब है।

किसी एक व्यक्ति विशेष द्वारा किसी अन्य व्यक्ति पर विजय प्राप्त करने की याद में खुशियां मनाना तो और भी बेमाने है। विजय दशमी के दिन सम्राट अशोक ने कलिंग देश को परास्त किया। वहां के लोगों पर विजय प्राप्त की। भयानक संग्राम में हजारों लोग मारे गये, लाखों अंगहीन हो गये, कितने अनाथ हुए, कितनी मांगों का सिंदूर पुंछ गया, कितनी गोदें सूनी हो गयीं, कितने घर उजड़ गये, कितने चमन वीरान हो गये। बर्बादी के इस माहौल में अशोक ने कलिंग देश पर विजय पायी ! क्या हम इस विजय की खुशियां मनाएं ? क्या यह विजय सचमुच विजय

थी ? इस विजय की महिमा बढ़ाने के लिए और विजेता की गौरव-गरिमा स्थापित करने के लिए न जाने कितने कवियों, लेखकों और साहित्यकारों ने कलिंग पर हर प्रकार की दुष्टता और अशोक पर हर प्रकार की सौजन्यता का गहरा रंग-रोगन चढ़ा दिया होता। परन्तु इससे भी यह विजय, विजय नहीं होती। यह तो अशोक की पराजय थी। वह अपनी लालसाओं का गुलाम था। एषणाओं का दास था, तृष्णाओं का बन्दी था। उनको वह जीत कहां सका ? जीतता तो इतनी भयानक बर्बादी करता ही कैसे ?

उसकी सच्ची विजय तो इस बात में हुई कि इस विनाशलीला ने उसकी आंखें खोल दी। सन्त पुरुष अर्हन्त मौगलिपुत्र तिस्स के सम्पर्क में आकर इस विजय-दशमी के दिन ही उसे अपनी भूलों का बोध हुआ। फलतः हिंसा के मार्ग का परित्याग कर उसने शान्ति-पथ चुना। यही उसकी विजय थी। उसने अपने आपको जीता, अपने मन को जीता, अपने मन में समाए हुए दुर्गुणों को परास्त किया। अब चण्ड-अशोक धम्म-अशोक बन गया। देवताओं सहित सभी प्राणियों को प्यारा लगने वाला, "देवानांप्रिय अशोक" बन गया। युद्ध की विकराल ज्वालाएं बुझ गयीं। शान्ति की चांदनी शीतलता बरसाने लगी। सारे देश में प्रेम, करुणा और जन-सेवा की पावन गंगा लहराने लगी। चारों ओर सुख-शांति और समृद्धि का साम्राज्य छा गया। यही अशोक की सच्ची विजय थी।

ऐसी विजय हमें भी प्राप्त हो। हम भी अपने मन में समाए हुए सभी दुर्गुणों की आग बुझा सकें, अपने अन्तर्मानस को निर्मल शान्ति-लहरियों से उर्मिल कर सकें। यही जीत हमारी सच्ची जीत होगी। बाहर के दुश्मनों को जीतना, कोई जीत नहीं है। हिंसा के बल से एक को जीत भी लेंगे तो दूसरा अधिक बलवान व्यक्ति अपना सिर उठाएगा और हमें डराएगा। जय-पराजय का यह चक्र हमें सदा अशान्त ही रखेगा। हम सदा अपने से अधिक बलवान से भयभीत ही रहेंगे। निर्भयता हमसे कोसों दूर रहेगी। ऐसी अवस्था में हम भला अपने आपको विजयी कैसे कह सकेंगे ?

भगवान ने कितना ठीक कहा, "हजार बार हजार युद्ध भूमियों पर हजार-हजार योद्धाओं को अकेला परास्त कर देने वाला भी विजयी कहलाने योग्य नहीं है। सच्चा विजयी तो वही है जो कि अपने आपको जीत चुका है।" बाहरी दुश्मनों को जीतने वाला सदा बैर, विग्रह और अशांति ही बढ़ाता है। वह सुख से नहीं सो सकता। सुख से वही सो सकता है जो कि बाहरी हार और जीत से ऊपर उठ गया है। बाहरी हार और जीत से वही ऊपर उठ सकता है जो कि अपने भीतरी दुश्मनों को जीत चुका है, जो अपने मन को जीत चुका है, मनोविकारों को जीत चुका है।

सचमुच जिसने अपना मन जीत लिया उसने जग जीत लिया। जो अभी तक अपने मानसिक व्यसनों का गुलाम है, वह चक्रवर्ती सम्राट हो कर भी पराजित ही है। अतः दूसरे को जीत कर हमें क्या मिलेगा ? जीतना है तो अपने आपको जीतें। यही सच्ची जीत है। यदि किसी दूसरे को जीतना ही चाहते हैं तो अपने निश्छल प्यार से जीतें, असीम करुणा से जीतें, अमरिमित मैत्री से जीतें। डन्डे से नहीं, बन्दूक से नहीं। डन्डे और बन्दूक की जीत जीत नहीं होती। हर डन्डे के मुकाबिले में कोई न कोई बड़ा डन्डा तैयार होता रहता है। हर बन्दूक के मुकाबिले में कोई न कोई बड़ी बन्दूक तैयार होती रहती है। इस स्पर्धा में जीत कहां ? परन्तु जिसे प्यार से जीत लें, मैत्री और करुणा से जीत लें, वह जीत फिर हार में नहीं बदल सकती। कोई उससे बड़ी मैत्री पैदा कर के उस विजय को पुष्ट ही करेगा। उसके नष्ट होने की कतई आशंका नहीं।

अंगुलिमाल एक बड़ा खौफनाक डाकू था। मनुष्य की देह में पूरा पिशाच। कौशल देश का राजा प्रसेनजित उस राक्षस के बोझ से पृथ्वी का भार हल्का करना चाहता था। वह उसे मारने में सफल नहीं हुआ। यदि अपने विपुल सैन्य-बल से वह अंगुलिमाल को मार भी देता तो क्या इससे समस्या का समाधान हो जाता ? किसी को मार देने से न मरने वाले का उद्धार होता है, न अन्य लोगों का। असली उद्धार तो उसको बदल देने में है। उसको दानव से मानव बना देने में है। उसकी पैशाचिक वृत्तियां नष्ट

कर देने में है। और यह काम असीम मैत्री और करुणा से ही हो सकता है। डन्डों से नहीं, बन्दूक की नलियों से नहीं। जो काम राजा प्रसेनजित की सेना की तलवारें नहीं कर सकीं वही तथागत की असीम मैत्री ने कर दिखाया। भगवान ने अपनी अपरिमित मैत्री और करुणा के बल पर उस भूले भटके व्यक्ति को सही, मार्ग पर स्थापित किया। उसे सदा के लिए जीत लिया। धर्म का अभ्यास कर वह अर्हन्त हो गया। जीवन-मुक्त हो गया। उसके भीतर समाई हुई सारी पाप-वृत्तियां दूर हो गयीं। अब वह धरती पर भार नहीं रहा। लोगों के त्रास का कारण नहीं रहा। अब तो वह सन्त पुरुष शुद्ध-चित्त से लोगों की सेवा में लग गया। सही माने में उसका भी उद्धार हुआ और जनता का भी। ऐसा उद्धार डन्डे के बल पर कभी नहीं हुआ करता। हिंसा से हिंसा पर विजय नहीं पायी जा सकती। बैर से बैर पर विजय नहीं पायी जा सकती। अहिंसा और मैत्री से ही हिंसा और बैर को जीता जा सकता है। उनका शमन किया जा सकता है। यही सनातन धर्म है, यही प्रकृति का अटूट नियम है। धर्म के गूढ़ रहस्य को हम भी समझें और हत्या के बजाय प्यार और करुणा द्वारा किसी बुरे की बुराई को जीतने का प्रयत्न करते रहें। यह प्रयत्न तभी सफल हो सकता है जबकि हम पहले अपने आप को पूरी तरह जीत लें, अपने अन्तर्मन को गन्दगियों से दूर करके उसे स्वच्छ और निर्मल बना लें। ऐसा निर्मल हुआ अंतर्मन ही मैत्री और करुणा से परिपूर्ण हो सकेगा। तभी वह औरों को भी प्रेरित-प्रभावित कर सकेगा। जब तक ऐसा न होने लगे तब तक अपने आपको ही जीतने में लगे रहें, अपने आपको ही स्वच्छ और निर्मल करने में लगे रहें।

व्यावहारिक जीवन में हमें कभी-कभी किसी पागल व्यक्ति का सामना करना पड़ जाता है, तो उसके साथ कठोरता का बर्ताव करना जरूरी हो जाता है। ऐसे समय अवश्य कठोरता बरतें। परन्तु बरतें उसके पागलपन के प्रति। उस पागल के प्रति तो हमारा मन करुणा से ही भरा हो। ठीक वैसे ही जैसे कि डाक्टर फोड़े के प्रति कठोरता बरतता हुआ उसे

चीरता है, परन्तु रोगी के प्रति तो उसके मन में करुणा ही करुणा समायी होती है।

विपश्यना के सतत् अभ्यास द्वारा आत्मविजयी बनें, तृष्णा को जड़ से उखाड़ फेंकें, आसक्तियों के बन्धन से मुक्त हो जायं और इस प्रकार सही अर्थ में विजय-पर्व मनाना सीखें। इसी में हमारा मंगल है, कल्याण है, भला है। यही हमारी सच्ची विजय है। इसे ही प्राप्त कर हम स्वयं सुखलाभी हों तथा औरों के भी सुख-वर्धन का कारण बनें!

सब्बे सत्ता सुखिता होन्तु!

रण सहस्त्र योद्धा लड़े, जीते युद्ध हजार ।
पर जो जीते स्वयं को, वही शूर सरदार ॥

देख परायी विजय को, मन प्रेरणा समाय ।
हम भी जब विजयी बनें, तो ही विजय मनाय ॥

अंधकार को त्याग कर , चलें ज्योति की ओर ।
मरण धर्म को छोड़ कर, अमर तत्त्व की ओर ॥

मिथ्या माया त्याग कर, परम सत्य की ओर ।
कदम कदम चलते रहें, बढ़ें लक्ष्य की ओर ॥

बैर बैर से ना मिटे, बढ़े द्वेष दुष्कर्म ।
बैर मिटे मैत्री किए, यही सनातन धर्म ॥

आग आग से ना बुझे, द्वेष मिटे ना द्वेष ।
क्रोध क्रोध से कब मिटे ? कभी न होय अशेष ॥

अंतर में दीपक जला, देख लिया पथ गूढ़ ।
बाहर जग भटकत फिरा, मार्ग न पाया मूढ़ ॥

मैला मन चंचल रहे, रहे व्यथा भरपूर ।
मन निर्मल हो जाय तो, होय दुखों से दूर ॥

राग द्वेष से, मोह से, जो मन मैला होय ।
विपश्यना के नीर से, विरज विमल फिर होय ॥

प्रज्ञा-जल से रगड़ कर, मन के मैल उतार ।
अन्तरमल छूटे बिना, थोथे सब उपचार ॥

मन के आंचल में भरा, मोह-मैल भरपूर ।
विपश्यना साबुन मिली, धो धो कर ले दूर ॥

धन्य भाग ! साबुन मिली, निर्मल पाया नीर ।
आओ ! धोएं स्वयं ही, मन के मैले चीर ॥

भीतर बाहर स्वच्छ हो, करें स्वच्छ व्यवहार ।
सत्य, प्रेम, करुणा जगे, यही धर्म का सार ॥

शील हमारा शुद्ध हो, हो समाधि भी शुद्ध ।
जब प्रज्ञा भी शुद्ध हो, होंय तभी हम शुद्ध ॥

जहां जुल्म अन्याय हो, करें प्रबल प्रतिकार ।
पर अन्यायी के लिए, रहे हृदय में प्यार ॥

भोला ! कीं नै जीतसी ? तेरो बैरी कूण ?
जीत्यां अपणै आपनै, सफल हुवै या जूण ॥

कीं दुस्मन नै जीतसी ? कीं सूं होवै हान !
राग द्वेस अर मोह ही, दुस्मन साचा जान ॥

संत पुरुस विजयी हुया, निरमल हुया निसोक ।
तूं क्यां को उच्छव करै, तेरा मिट्या न सोक ॥

काम क्रोध अर मोह सूं, मन ब्याकुल भयभीत ।
बीं दिन बिजय मनावस्यां, जीं दिन लेस्यां जीत ॥

घणां जलाया ढीबरा, घणां जलाया दीप ।
पण मन अंधियारो रह्यो, जग्यो न प्रग्या-दीप ॥

महलां तो बिजली जलै, दिवलां जलै कतार ।
पण अन्तर महँ छा र यो, अहंकार अंधियार ॥

बाहर तो जगमग जगै, दिवलां सजी कतार ।
भीतर भी जागै इसी, दिब्य जोत री धार ॥

बिजली हांडा चास कर, उजलो कर्यो उजास ।
अब अंतर की कोठर्यां, भरले विमल प्रकास ॥

अंतर दिवला जल रया, जगमग जोत अमन्द ।
सदा दिवाली सन्त कै, आठूं प्होर अणन्द ॥

बन ठन कर आयी किसी, पैरी ओढ़ी नार ।
कर अैंया ही फूटरा, अन्तर रा सिंगार ॥

गैणा कपड़ा फूटरा, किसो संवार्‌यो रूप ।
मन न संवार्‌यो छैलजी ! भीतर रह्या कुरूप ॥

पोडर मूं पर मळ लियो, क्रीम लवंडर सेंट ।
पण बदबू दुस्सील की, कठै सकी तूं मेट ॥

भलो कर्‌यो घर आंगणो, लीन्यो झाड़ बुहार ।
अब अैंया ही चित्त रो, सगलो मैल उतार ॥

मन तो मैलो ही र वै, पड़ग्यो इसो सुभाव ।
निरमल करणो होय तो, धरम गंग महँ न्हाव ॥

भीतर सोधण छोड़ कर, करै बाहरी सोध ।
सार छोड़ छिलका चखै, भोळो घणो अबोध ॥

वैशाख-पूर्णिमा

वैशाख-पूर्णिमा का यह पावन पर्व हमें कल्याण साधना के लिए पर्याप्त प्रेरणा दे ।

अनंत जन्मों तक दान, शील, निष्क्रमण, प्रज्ञा, वीर्य, क्षांति, सत्य, अधिष्ठान, मैत्री और उपेक्षा रूपी दस पारमिताओं को परिपूर्ण करते हुए बोधिसत्व सिद्धार्थ गौतम इसी पावन दिवस पर जन्मे । यह उनका अंतिम जन्म था । हम भी उन्हीं के समान अपनी अपनी पुण्य पारमिताओं को पूरा करते हुए, ऐसा जन्म प्राप्त करें, जो कि हमारे लिए भी अंतिम जन्म साबित हो ।

बोधिसत्व सिद्धार्थ गौतम ने वैशाख पूर्णिमा को ही सारे अनुशय-क्लेशों को विदीर्ण करते हुए सम्यक्-सम्बोधि प्राप्त की और परम सत्य का साक्षात्कार किया । हम भी उन्हीं की तरह शील, समाधि और प्रज्ञा का अभ्यास करते रहें और शनैः शनैः अपने सारे क्लेश दूर करते हुए परम पद निर्वाण का साक्षात्कार कर लें

सम्यक्-सम्बोधि प्राप्त करने के बाद पैंतालिस वर्ष तक उन महाकारुणिक भगवान तथागत सम्यक् सम्बुद्ध ने सतत् जन सेवा में निमग्न रहते हुए वैशाख पूर्णिमा को ही अस्सी वर्ष की परिपक्व अवस्था में महापरिनिर्वाण प्राप्त किया । यही उनकी अंतिम मृत्यु थी । हम भी इसी प्रकार आत्महित और परहित में निरत रहकर ऐसी मृत्यु प्राप्त करें, जो कि हमारे लिए भी अंतिम मृत्यु साबित हो ।

त्रिधा पुण्यमयी वैशाख पूर्णिमा का यही प्रेरणा-प्रसाद हमें धर्म धारण करने के अभ्यास में लगाए । इसी अभ्यास में हमारा सच्चा कल्याण निहित है।

आओ, अपना सच्चा कल्याण साधें !

सत्य का साक्षात्कार

वैशाखी पूर्णिमा की वह मंगलमयी रात धन्य हो उठी जबकि उस युवा योगी सिद्धार्थ गौतम ने बोधिवृक्ष ने तले अपने आप पर अनुपम विजय प्राप्त की। सारा अज्ञान-अंधकार दूर हो गया। प्रज्ञा की आलोक-रश्मियां प्रभास्वर हो उठीं। सूक्ष्म से सूक्ष्म आन्तरिक क्लेशों का मैल धुप-धुल गया। नितान्त विरज विमल धर्मचक्षु प्राप्त हो गए। अनेक जन्मों के पूर्व संस्कारों का सारा लेप उतर गया। अन्तर्मन पूर्णतया निर्मल निर्लेप हो गया। सभी कर्म बन्धन टूट गए। चित्त सर्वथा बंधन-मुक्त हो गया। भविष्य के प्रति कोई तृष्णा नहीं रह गई। मन पूर्ण रूपेण वितृष्णा हो गया। मोह-मूढ़ता, माया-मरीचिका, विभ्रम-विपर्यास का सारा कुहरा दूर हो गया। परम सत्य का साक्षात्कार हो गया। अनंत जन्मों का सत्प्रयत्न सफलीभूत हुआ। बोधिसत्व सिद्धार्थ गौतम सम्यक् सम्बद्ध हो गया।

अनुपम विमुक्ति रस का आस्वादन करते ही सम्यक् सम्बुद्ध के मुंह से परम हर्ष के उद्‌गार निकल पड़े। बड़े अर्थपूर्ण हैं यह उदान शब्द ! बड़ा भावपूर्ण है यह हृदय-उद्‌गार !

अनेकजातिसंसारं सन्धाविस्सं अनिब्बिसं।
गहकारकं गवेसन्तो दुक्खा जाति पुनप्पुनं॥
गहकारक ! दिट्‌ठोसि पुन गेहं न काहसि।
सब्बा ते फासुका भग्गा गहकूटं विसङ्खितं
विसङ्खारगतं चित्तं तण्हानं खयमज्झगा॥

सम्यक् सम्बोधि प्राप्त करने के पूर्व ध्यान समापत्तियों द्वारा जो अनेक सिद्धियां प्राप्त हुईं, उनके बल पर सिद्धार्थ गौतम ने अपने अनंत अतीत का दर्शन किया और देखा कि उस अपरिमित काल-प्रवाह में अनगिनत बार इस संसार में जन्म लेता रहा हूँ। हर बार जन्म लेने पर

मृत्यु की ओर ही दौड़ लगती रही है। वह कौन है जो मुझे बार-बार जन्म दे रहा है ? वह कौन है जो हर मृत्यु पर मेरे लिए एक नया जीवन तैयार कर देता है ? एक नया घर बना देता है ? इस घर बनाने वाले की खोज में कितने जन्मों में कितना समय बिताया और इस खोज में बार बार दुखमय जन्म ही लेते रहने पड़े। इस बार ऐसी सम्यक् सम्बोधि प्राप्त हुई कि सारी सच्चाई आंखों के सामने आ गई। देख लिया उस घर बनाने वाले को। अब वह पुनः घर नहीं बना सकेगा मेरा। घर बनाने के लिए जिन सामग्रियों की आवश्यकता होती है, वे सारी नष्ट भ्रष्ट कर डाली हैं मैंने। घर बनाने वाला अब किससे घर बना पायेगा ? बिखर गयीं घर की सारी कड़ियां, बिखर गया घर का शिखर स्तंभ। अब कोई आधार नहीं नए घर के बनने का। संस्कारों से पूर्णतया विहीन होकर परम परिशुद्ध हो गया यह चित्त। इस पर लगे हुए अतीत के सारे लेप उतर चुके। आगे कोई लेप लग सकने की संभावना नहीं। क्योंकि भविष्य के प्रति मन में अब कोई कामना ही नहीं रह गयी। सारी तृष्णाएं जड़ से उखाड़कर फेंक दी गईं। काम तृष्णा भी, भव तृष्णा भी, विभव तृष्णा भी।

कौन था यह घर बनाने वाला जिसका दर्शन हो गया सम्यक् सम्बुद्ध को ? विमुक्ति के इस संग्राम के दौरान उस रात उसे देवपुत्र मार ही के तो दर्शन हुए थे। क्या यही मार घर बनाने वाला है ? कौन है यह मार ? हमारे अन्तर्मन में समाए हुए सभी प्रकार के कुत्सित संस्कारों का व्यक्तिकरण ही तो मार है। सचमुच यह मार ही तो है जो कि बार बार हमारे लिए नया-नया घर बनाता रहता है। नए नए जन्म द्वारा नया नया शरीर उत्पन्न करता रहता है। लेकिन अब यह मार सर्वथा लाचार हो गया, निहत्था हो गया, निर्बल हो गया। अब यह कैसे घर बना सकेगा भला ! घर बनाने की सारी सामग्री याने सारे पूर्व संचित संस्कार सचमुच ही छिन्न-भिन्न हो गये। नया संस्कार बनाने वाली सारी लालसाएं जड़ से उखड़ गईं। भूतकाल के संग्रहित संस्कार और भविष्य के प्रति जागने वाली तृष्णाएं ही तो हमारे लिए नए नए भव का कारण बनती हैं। ये दोनों खत्म हो जायं

तो नया भव बनाना स्वतः रुक जाय। आग का जलावन समाप्त हो जाय तो आग अपने आप बुझ जाय। बिना जलावन आग किसको लेकर जले?

"खीणं पुराणं नवं नत्थि संभवं" पुराना क्षीण हो गया, नया बन नहीं रहा। यही तो विमुक्त-अवस्था थी। यही तो सम्यक् सम्बोधि थी उस बोधिसत्व की। यही तो अंधकार पर प्रकाश की विजय थी। मृत पर अमृत की विजय थी। असत् पर सत् की विजय थी।

परन्तु सिद्धार्थ गौतम की इस अनुपम उपलब्धि की बात सुनकर हम प्रसन्नता-विभोर हो उठें और धन्य धन्य कह उठें तो मात्र इतने से हमारा कोई विशेष लाभ हो जानेवाला नहीं है। हमारा वास्तविक लाभ तो स्वयं बोधि प्राप्त करने में है। स्वयं परम सत्य का साक्षात्कार करके विमुक्त हो जाने में है। अतः सिद्धार्थ गौतम की इस महान आत्म-विजय से हम समुचित प्रेरणा प्राप्त करें और स्वयं भी उस रास्ते चलकर, भले थोड़ी बहुत ही सही, इसी जीवन में चित्त-विमुक्ति प्राप्त करें तो ही हम सच्चे सुख के अधिकारी हो सकते हैं। इसलिए समझें कि सिद्धार्थ गौतम की सम्यक् सम्बोधि क्या थी? और कैसे हासिल हुई?

यह कोई अलौकिक चमत्कारपूर्ण घटना नहीं थी जो कि किसी अदृश्य सत्ता की अनुकम्पा स्वरूप घटी हो। यह तो मनुष्य के अपने ही अथक परिश्रम की श्रेष्ठतम उपलब्धि थी। किन्हीं कमनीय कपोल-कल्पनाओं के सहारे प्राप्त हुआ, यह कोई थोथा बुद्धि, किलोल नहीं था। यह तो सम्यक् सम्बोधि थी, परम सत्य का प्रत्यक्ष साक्षात्कार था। इसे प्राप्त करने के लिए मिथ्या कल्पनाओं का सहारा नहीं लिया गया और न ही मिथ्या भावुकता का। मस्तिष्क और हृदय को इन दोनों दूषणों से दूर रखकर ही नितांत निर्मलता प्राप्त की जा सकी। मस्तिष्क ने अपरिमित शुद्ध ज्ञान हासिल किया और हृदय ने भावावेश की मलिनता से विहीन अनंत विशुध्द मैत्री और करुणा उपलब्ध की। और यह सब स्वावलंबन के बल पर ही किया गया। पराश्रित होकर कोई स्वतंत्र और स्वाधीन के

हो सकता है ? विमुक्त कैसे हो सकता है ? मनुष्य को अपने भीतर की लड़ाई स्वयं ही लड़नी पड़ती है। अपने दुर्गुणों से और अपनी मिथ्या दृष्टियों से स्वयं ही युद्ध करना पड़ता है। इसी लड़ाई में अज्ञान के घने बादल छिन्न-भिन्न होते हैं और उस अंधकार में से सत्य का प्रकाश प्रस्फुटित होने लगता है।

सत्य की खोज में लगा हुआ साधक अन्तर्मुखी होकर यह जान लेता है कि उसके भीतर ही भीतर क्या कुछ हो रहा है और जो कुछ हो रहा है उसका यह-यह कारण है। वह जान लेता है कि जो कुछ कारणों से हो रहा है, उसका निवारण अवश्य ही किया जा सकता है। वह जान लेता है कि इस-इस प्रकार उन कारणों का निवारण किया जा सकेगा और ऐसा जान समझकर ही वह उन कारणों का स्वयं निवारण करके बंधन-मुक्त होता है और निरभ्र आकाश में चमकते हुए सूर्य के समान प्रभास्वर हो प्रतिष्ठित होता है। यही सच्ची विमुक्ति है।

अनेक जन्मों में और इस अंतिम जन्म में भी अनेक प्रकार की विधियों के अभ्यास में भटकते रहने के बाद उस महामानव ने इसी विमुक्ति के लिए जो सहज सरल तरीका ढूंढ निकाला उसे ही हमारे लिए विरासत के रूप में छोड़ गए। हम उसका सही उपयोग करके वही प्राप्त कर सकते हैं जो कि उन्होंने प्राप्त किया।

क्या था वह तरीका ? सच्चाई को उसके सही स्वरूप में देखते रहना। स्थूल सच्चाई को देखते-देखते उसे सूक्ष्मता की पराकाष्ठा तक देख जाना। मोटे-मोटे सघन सत्य का विभाजन विश्लेषण करते-करते उसके सूक्ष्मतम परमार्थ स्वरूप का साक्षात्कार कर लेना। सत्य की यह खोज तभी सफल होती है जबकि पूर्व मान्यताओं और पूर्वाग्रहों के सभी रंगीन चश्मे उतार दिए जायं और स्वानुभूतियों के स्तर पर जो-जो सत्य सम्मुख आता जाय, उसे यथाभूत स्वीकार करते चलें। यही यथाभूत ज्ञान-दर्शन है जो कि परम सत्य का साक्षात्कार कराता है। इसमें न कल्पना के लिए

गुंजाइश है और न ही भावावेश के लिए। बोधिसत्व ने एक शोध वैज्ञानिक की तरह इन दोनों को ही दूर रखकर परम सत्य की खोज की और सफल हुए।

खुली प्रकृति में सिद्धार्थ गौतम का जन्म हुआ, प्रकृति में ही उन्होंने सम्यक् सम्बोधि उपलब्ध की और खुली प्रकृति में ही महापरिनिर्वाण प्राप्त किया। जीवन की तीनों महत्वपूर्ण घटनाएं खुली प्रकृति में ही घटी। अतः उन्होंने जीवनभर खुली प्रकृति का खूब ही गहन अध्ययन किया। उन्होंने देखा कि इस जंगम जगत में सब कुछ गतिमान ही गतिमान है। कुछ भी तो जड़ नहीं है। प्रतिक्षण सर्वत्र कुछ न कुछ घटित हो रहा है। प्रतिक्षण कुछ न कुछ बन ही रहा है, बदल ही रहा है। बदलते रहना, बनते रहना, यही इस संसार का स्वभाव है। इसीलिए यह भव संसार है। जिन्हें *हम जड़ भौतिक पदार्थ कहते हैं वे भी जंगम ही हैं। अत्यंत सूक्ष्म स्तर पर* उनमें भी प्रतिक्षण परिवर्तन ही परिवर्तन हो रहे हैं। जिसे हम चैतन्य कहते हैं वह भी प्रतिक्षण परिवर्तनशील है। जो कुछ बाहर घट रहा है वैसा ही प्रत्येक प्राणी के भीतर भी प्रतिक्षण घट रहा है। कुछ न कुछ परिर्वतन हो ही रहा है। इसी सत्य को उन्होंने अपने अन्दर अंतर्मुखी होकर देखा। प्रकृति का सारा रहस्य अनावरित हो गया। यह शरीर स्कंध और ये चेतन चित्त-स्कंध जिनके साथ हमने तादात्म्य स्थापित कर लिया है और जिन्हें 'मैं' मैं' 'मेरा' 'मेरा' कहते हुए उलझते ही जा रहे हैं, मूंज की रस्सी की तरह अकड़ते ही जा रहे हैं, उनका सारा सत्य-स्वभाव प्रत्यक्ष हो गया। ऐन्द्रिय और लोकीय जगत की इन सूक्ष्मतम सच्चाइयों के मरणशील स्वभाव का साक्षात्कार तो हुआ ही, उनसे परे इंद्रियातीत लोकोत्तर निर्वाण के अमृत स्वभाव का भी साक्षात्कार हो गया। इस प्रकार प्रत्यक्ष अनुभूतियों के स्तर पर दुःख का साक्षात्कार हुआ, दुःख के कारण का साक्षात्कार हुआ और इन कारणों को दूर करके नितांत दुःख-विमुक्त स्थिति का भी साक्षात्कार हो गया। आओ, हम भी स्वानुभूतियों के स्तर पर स्वयं देखें, समझें कि हमारा यह शरीर स्कंध क्या है ? यह चित्त-स्कंध

क्या है ? और इन दोनों की मिली जुली यह जीवनधारा क्या है ? इसमें किस प्रकार परिवर्तन होते रहते हैं ? किस प्रकार नासमझी के कारण भीतर ही भीतर गांठें बंधती रहती हैं ? उलझने बढ़ती रहती हैं ? किस प्रकार इन गांठों को बंधने से रोका जा सकता है ? किस प्रकार पुरानी गांठे खोली जा सकती हैं ? किस प्रकार सारी उलझनें सुलझाई जा सकती हैं ? और किस प्रकार परमसत्य का साक्षात्कार करके विमल विमुक्ति-रस का आस्वादन किया जा सकता है ? वैशाख पूर्णिमा की यही पावन प्रेरणा है । इसका लाभ लें !

हम भी अपने भीतर समाए हुए गृह-निर्माता देवपुत्र मार का दर्शन करें और उसे पराजित कर निर्बल निहत्था बना दें ! हम भी अपने विकारों का दर्शन करें और उन्हें क्षीण बना दें ! मुक्ति इसी में है! मंगल इसी में है !

मंगल हो !

माया सारी दूर हो, हो मरीचिका दूर ।
सत्य धरम जन जन जगे, हो मंगल भरपूर ॥

धर्म न मिथ्या मान्यता, धर्म न मिथ्याचार ।
धर्म न मिथ्या रूढियां, धर्म सत्य का सार ॥

सम्प्रदाय को धर्म जो, समझ रहा वह मूढ़ ।
धर्म सार पाया नहीं, पकड़े छिलके रूढ़ ॥

छिलकों में उलझा रहा, पकड़ न पाया सार ।
बिना सार संसार को, कौन कर सका पार ?

मिथ्या-मत सब दूर हों, मिटे अंध-विश्वास ।
सदा सुधारें कर्म निज, छोड़ परायी आस ॥

मिथ्या तज कर जो हुआ, सम्यक् दृष्टि निधान ।
सचमुच सौगत है वही, बुद्ध-पुत्र कुलवान ॥

मत कर मत कर बावळा, मत कर बुद्धि विलास ।
चाख्यो चावै धरम रस, तो कर ले अभ्यास ॥

कीनीं कोरी कल्पना, ऊंची भरी उड़ान ।
पग धरती सूं छुट गया, मनवो मूढ़ अजान ॥

सार सार तो तज दियो, भेळो राख्यो फूस ।
उन मिनखां नै सुख कठै, मन रैसी मायूस ॥

बार बार लीन्यो जनम, पड़यो काल कै गाल ।
इतना दिन मदहोस हो, इब तो होस संभाल ॥

यो तो मारग ग्यान को, अन्ध-भक्ति बेकाम ।
स्रद्धा तो होवै मगर, हुवै विवेक लगाम ॥

दुख की काळी रात महँ, जगी चांद की जोत ।
धरम रतन पायो इसो, मिलग्यो सुख को स्रोत ॥

परम उपकारी !

उन परम सत्यदर्शी भगवान सम्यक् संबद्ध का उपकार मानें जिन्होंने कि न केवल स्वयं सत्य का दर्शन किया, बल्कि हम सब के लिए भी मार्ग-निर्देशन किया। न केवल स्वयं अमृतपान किया, बल्कि हम सब के लिए भी अमृत का द्वार खोल दिया। लोकीय सत्यों का दर्शन करके ही लोकोत्तर परम सत्य का दर्शन हो सकता है। रोग का सही दर्शन करके ही रोग-मुक्ति का दर्शन हो सकता है।

कोई चिकित्सक रोग के अस्तित्व को स्वीकार न कर रोगी को रोग-विहीन होने का भुलावा देता है तो उसकी हानि करता है। कोई चिकित्सक रोग की अतिरंजना करके रोगी को भयभीत करता है तो उसकी हानि करता है। परन्तु एक उत्तम अनुभवी चिकित्सक रोग की यथाभूत जानकारी प्राप्त कर उसके सत्य कारणों की खोज करता है और उनका निराकरण कर रोगी को रोग मुक्त कर देता है। जब कोई व्यक्ति अनेक जन्मों की तप-साधना द्वारा पूर्णता प्राप्त करता है और सम्यक्-संबुद्ध बनता है तो वह यथार्थदर्शी एक महान वैद्य की भांति जन-उपकारी होता है। वह 'भिषक', वह 'भैषज्य-गुरु', वह महान वैद्य किसी थोथी कल्पना में उलझता-उलझाता नहीं। वह तो 'यथाभूत ज्ञान दर्शन' द्वारा परम सत्य का साक्षात्कार करता हुआ पीड़ित लोगों को पीड़ामुक्ति का कल्याणकारी मार्ग ही देता है।

जहां सत्य-दर्शन का गुण जागे, वहां मिथ्या भ्रांतियों से स्वतः छुटकारा मिल जाता है। सत्य स्थिति को स्वीकारते हैं तो आसानी से जान लेते हैं कि यह दुख है। साथ-साथ यह भी जान लेते हैं कि यह क्यों हो रहा है ? फिर यह भी जान लेते हैं कि इस दुख से छुटकारा पाया जा सकता है और साथ-साथ यह भी जान लेते हैं कि इस छुटकारा पाने योग्य से कैसे

छुटकारा पाया जा सकता है ! बस ये चारों बातें जान लीं तो मतलब की
छुटकारा पाया जा सकता है । बस, ये चारों बातें जान लीं तो मतलब की सारी बातें जान लीं । यदि दुख जानकर दुख-मुक्त हो गये जो करणीय था, वह सब कुछ कर लिया, कृत-कृत्य हो गए । जो प्राप्तव्य था वह प्राप्त कर लिया । कृतार्थ हो गए ।

साधको ! नमस्कार योग्य है वह सम्यक् संबुद्ध, जिसने मतलब की ही बात की, फिजूल कल्पनाओं में नहीं उलझे । आओ ! हम भी उन्हीं की भांति फिजूल कल्पनाओं को छोड़कर, फिजूल विग्रह-विवादों को छोड़कर, दुख-विमुक्ति का यथार्थ लाभ हासिल करें । मंगल इसी में है ! कल्याण इसी में है ! भला इसी में है !

नमस्कार उनको करें, जो सम्यक् सम्बुद्ध ।
जो अरहत् भगवन्त जो, जो पावन परिशुद्ध ।।

इस श्रद्धामय नमन से, चित्त विमल हो जाय ।
अहंभाव सब दूर हो, विनय भाव भर जाय ।।

श्रद्धा जागे बुद्ध पर, चलें, धरम के पंथ ।
दुराचार से मुक्त हों, दुर्जन होवें संत ।।

ज्यों गौतम सिद्धार्थ में, जागी बोधि अनंत ।
त्यों हम सब में भी जगे, होय दुखों का अंत ।।

चलते चलते धरम पथ, चित्त शुद्ध यदि होय ।
तो सम्यक् सम्बुद्ध का, अनुपम आदर होय ।।

यही बुद्ध की वन्दना, पूजन और प्रणाम ।
शुद्ध धरम धारण करें, मन होवे निष्काम ।।

ना हिन्दू ना बौद्ध हूँ, ना मुस्लिम ना जैन ।
शुद्ध धरम का पथिक हूँ, सुखी रहूँ दिन रैन ।।

आज बुद्ध रो दिवस है, जगै बोधि री जोत ।
पिंड पिंड जगमग हुवै, मिलै सांति सुख स्त्रोत ॥

सरधा जागी बुद्ध पर, कर्‌यो धरम अभ्यास ।
अंतरतम की बुझ गयी, जनम जनम री प्यास ॥

बुद्ध धरम अर संघ पर, सरधा जगी अटूट ।
मिलग्यी बिमल बिपस्सना, पीवूं इमरत घूंट ॥

चित्त निपट निरमल र वै, र वूं पाप सूं दूर ।
याहि बुद्ध की बन्दगी, र वै धरम भरपूर ॥

याही साची बन्दगी, नमस्कार परणाम ।
जीवन जीऊं धरम को, करूं न कूड़ा काम ॥

बुधजी थारी बोधि को, किसोक मंगल घोस ।
सूत्यां नै जाग्रण मिलै, मदहोसां नै होस ॥

बुध जी थारी बोधि सूं, माटी सुबरण होय ।
कांकर तो हीरा हुवै, पाथर पारस होय ॥

तृष्णा की तड़पन

मेरे प्यारे साधक-साधिकाओ !

धर्म-प्रज्ञा जाग्रत रहे !

धर्म-प्रज्ञा के जाग्रत रहने में ही सच्ची सुख-शांति समायी हुई है। यह दुष्प्रज्ञता ही है जो हमारे दुख-दारिद्र्य का पहाड़ खड़ा कर देती है।

प्रज्ञा जाग्रत रहने का अर्थ है, सचेत रहना, सजग रहना, सावधान रहना, होश में रहना, जो बात जैसी है उसको वैसे ही देखना, समझना। और दुष्प्रज्ञता का अर्थ ऐसा न होना। याने अचेत रहना, बेहोश रहना, अनवधान रहना, जो बात जैसी है, उसको वैसी न देख-समझकर उसके विपरीत ही देखना, समझना। यही दुष्प्रज्ञता हमारे लिए अनेक प्रकार के दुख पैदा करती है, हमें सच्चे सुख से दूर रखती है, हमारी शांति भंग करती है, हमें बेचैन बनाती है।

आओ, समझें कि ऐसा क्यों हो जाता है ? कैसे हो जाता है ?

हमारे मन में कोई नन्हीं-सी कामना जागती है, आकांक्षा जागती है, इच्छा जागती है, तमन्ना जागती है और धीरे-धीरे अनजान अवस्था में ही वह गहरी लालसा का रूप धारण कर लेती है। हम इस लालसा के प्रति गहरे आसक्त होते जाते हैं, इससे बंधते व चिपकते जाते हैं। जितने-जितने गहरे आसक्त होते हैं, उतने-उतने ही उस तृष्णा-विशेष को पूरी करने के लिए बेचैन हो उठते हैं, व्यग्र और व्याकुल हो उठते हैं। इस अशांत अवस्था में हम मन, वचन और शरीर से ऐसे कामों में अन्धाधुंध जुट जाते हैं, जिनसे कि हमारी समझ में हमारी वह तृष्णा, वह लालसा पूरी हो सकेगी। जितनी देर वह लालसा पूरी नहीं होती, उतनी देर अन्तर्मन में रह-रह कर ज्वार से उठते रहते हैं। उस लालसा की पूर्ति के

अभाव में एक मानसिक तनाव पैदा होने लगता है, जो कि अनजान अवस्था में बढ़ते ही जाता है। इस तरह का हर तनाव मन की शांति भंग करता है, सरलता नष्ट करता है। इस तनाव व खिंचाव के मारे मन पर गांठें बनती जाती हैं। हम अपनी इस सही स्थिति को समझ भी नहीं पाते कि किस प्रकार भीतर ही भीतर सरल स्वच्छ-चित्त को गांठ-गठीला बनाते चले जा रहे हैं।

इस मानसिक तनाव और ग्रंथियों का असर धीमे-धीमे हमारे शरीर पर भी पड़ने लगता है। हमारे शरीर की मांस पेशियों में, रक्तवाहिनी नाड़ियों में सूक्ष्म स्नायु-तन्तुओं में, सूक्ष्म से सूक्ष्म रेशे-रेशे में तथा समस्त जीवकोषों में तनाव व खिंचाव आने लगता है। गांठें बंधने लगती हैं। शरीर की सहज-सरल शिथिलता नष्ट होने लगती है। मन और तन दोनों मूंज की रस्सी की तरह अकड़े रहने लगते हैं।

हमें लगता है कि हमारे मन की वह एक तमन्ना पूरी होते ही यह सारा खिंचाव अपने आप दूर हो जायेगा, हमें बड़ा सुख मिलेगा, शांति मिलेगी। मन आह्लाद-प्रह्लाद से भर उठेगा यह सच है कि हर कामना की पूर्ति पर थोड़ी देर के लिए ऐसी स्थिति अवश्य आती है जो कि हमारे मानसिक तनाव को और शारीरिक कसाव को ढीला कर देती है और हमें बड़ा अच्छा लगने लगता है। परन्तु हमारा दुर्भाग्य है कि ऐसी स्थिति देर तक बनी नहीं रहती। हमारा मन किसी एक चाह के प्रति निरंतर लालायित रहने के अभ्यास में इस कदर स्वभाव-ग्रस्त हो गया है कि उस एक लालसा की पूर्ति होते ही वह अपनी स्वभावगत लालसा को किसी अन्य आधारबिन्दु पर केन्द्रित कर देता है। मतलब यह है कि जैसे ही एक लालसा पूरी होती है, मन उससे किसी दूसरी बड़ी लालसा की पूर्ति के लिए लालायित हो उठता है। एक तृष्णा पूरी हो तो उससे बड़ी तृष्णा अपना सिर उठाने लगती है और तृष्णाओं का यह अटूट क्रम एक के बाद एक नए और बड़े आलंबन की ओर मुंह बाए आगे बढ़ता ही रहता है। जिस

लालसा की पूर्ति हो चुकी है, उसके प्रति हमारा आकर्षण समाप्त होने लगता है, क्योंकि उससे बड़ी किसी अन्य लालसा के प्रति मन आसक्त होने लगता है। इसलिए जो प्राप्त हुआ, उसका सुख संतोष हम भोग ही नहीं पाते। जो अप्राप्त है, उसके लिए तरसने लगते हैं। जीवन का अधिकांश समय बिना पूरी हुई लालसाओं की इस तरस में बीतता चला जाता है। जो कुछ है, उसका सुख नहीं और जो कुछ नहीं है, उसी के लिए व्याकुल बने रहते हैं। भाव का संतोष सुख पाते नहीं। अभाव का दारिद्र्य-दुख सिर पर चढ़ाए रहते हैं। हमारी यह राग-रंजित अवस्था हमें कदापि शांति नहीं दे सकती। क्योंकि तृष्णाओं की कोई सीमा नहीं, इसलिए सारी तृष्णाएं कभी पूरी हो नहीं सकतीं। एक न एक दिन बिन पूरी हुई तृष्णा हमारे मन को बोझिल बनाए रखती है। अपनी एक से एक बढ़ती हुई तृष्णाओं के प्रति यह गहरी आसक्ति हमारे अन्तर्मन में एक ऐसा अटूट तनाव पैदा करती रहती है जिससे कि हमें दिन तो दिन, रात को भी चैन नहीं मिलती। या तो नींद आती ही नहीं और यदि आई भी तो इस अभावग्रस्त अचेतन मन का भारी बोझ बना ही रहता है। नींद से उठ कर भी हम ताजगी और हल्कापन महसून नहीं कर पाते। इस प्रकार इन सीमाहीन तमन्नाओं की लालसा हमें रात-दिन बेचैन, व्याकुल, अधीर बनाए रखती है। मन और शरीर को अनगिनत ग्रंथियों में उलझाए रखती है।

ऐसा हो नहीं सकता कि हमारी सारी तमन्नाएं सहज भाव से पूरी होती चली जायं, क्योंकि जैसे हमारी तमन्नाएं हैं, वैसे औरों की भी तमन्नाएं हैं। और बहुधा हमारी तमन्नाएं औरों की तमन्नाओं से टकराती हैं। यदि हमारी तमन्ना पूरी हो तो किसी अन्य की तमन्ना टूटती है। किसी अन्य की तमन्ना पूरी हो तो हमारी टूटती है। ऐसी अवस्था में हमारी तमन्नाओं की पूर्ति के रास्ते में जहां भी कोई अवरोध पैदा होता है,वहीं हमें झुंझलाहट होती है, गुस्सा आता है, हमारा आन्तरिक तनाव कई गुना बढ़ जाता है। शरीर और मन की ग्रंथियां और अधिक उलझ

जाती हैं। भीतर की गांठें, घुलमा गांठे बनती चली जाती हैं। हम अधिक चिड़चिड़े होने लगते हैं। हमारी शांति अधिक भंग होती है। सच्चाई को जाने बिना हम अपने दुःखों का कारण औरों पर आरोपित करने लगते हैं। मन में द्वेष-दौर्मनस्य भरते रहते हैं। रागरंजित चित्त में जो गांठें बंधती हैं और उनके द्वारा जो मानसिक व शारीरीक तनाव पैदा होता है, वह इस द्वेष-दूषित अवस्था में कई गुना अधिक बढ़ जाता है। मन का उत्तेजन और उत्तापन तीव्र हो उठता है। अशांति और बेचैनी ज्यादा बढ़ने लगती है। प्रतिक्षण अपने मकसद की पूर्ति न हो सकने की आशंकाएं हमारी व्याकुलता बढ़ाती रहती हैं। और इस प्रकार हमारा मन और तन दोनों अस्वस्थ हो उठते हैं। जीवन का वास्तविक सुख हमसे कोसों दूर रहता है।

जीवन के सारे भौतिक सुख-साधन, वैभव-विलास, ऐश्वर्य-संपदा हमें फीकी लगने लगती है। क्योंकि हम हमेशा जो है, उससे किसी अन्य ऊंची स्थिति की खोज में पागल रहते हैं। जीवन सतत् अभावग्रस्त बना रहता है। इस अभाव की पूर्ति में बाधास्वरूप आने वाले हर व्यक्ति,वस्तु, घटना व स्थिति के प्रति चित्त दुर्मन बना रहता है। मनचाही बात होती नहीं, इसकी पीड़ा तो होती ही है। दूसरी ओर अनचाही होती रहती है, यह उस पीड़ा की आग में पेट्रोल छिड़कने का काम करती है। मनचाही स्थिति को हम अपनी ओर खैंचने का प्रयास करते हैं और अनचाही स्थिति को दूर ढकलने का। इस खिंचाव और इस दुराव के कारण, इस राग और इस द्वेष के कारण जो आन्तरिक संघर्ष चलता रहता है, वही हमारा दुख है। जहां यह संघर्ष समाप्त हुआ, वहीं खिंचाव-तनाव दूर हुए, दुख-दर्द दूर हुए और सही सुख तथा सही शांति मिलने लगी।

जैसे द्वेष की उत्पत्ति राग से होती है, वैसे ही राग की उत्पत्ति मोह-मूढ़ता से होती है। यह मोह-मूढ़ता क्या है ? यह हमारे चित्त की वह अज्ञान अवस्था है, जिससे कि हम किसी भी व्यक्ति, वस्तु अथवा स्थिति को और साथ ही साथ अपने आपको चिरस्थायी मानकर उसके प्रति आसक्त हुए चले जाते हैं। विपश्यना साधना द्वारा जब चित्त एकाग्र

होकर अपने इस बेचैन अन्तर्मन का स्वयं दर्शन करता है तो उसे यह सारा खेल समझ में आने लगता है। वह अपने ही समान सारी बाह्य वस्तुओं को, व्यक्तियों को और स्थितियों को अनित्य महसूस करने लगता है। उनके प्रति नित्यभाव की मिथ्या दृष्टि दूर होती है। उनके नश्वर भंगुर और परिवर्तनशील स्वभाव को सही-सही समझने लगता है। इस प्रकार सही बात को सही रूप में देखने समझने वाली जो प्रज्ञा जागती है, वह हमें उन भंगुर आलंबनों के प्रति आसक्त होने से, चिपकने से, बचाती है। राग के प्रति जहां यह चिपकाव टूटता है, वहीं राग से उत्पन्न होने वाले दुःख दूर हो जाते हैं। और जब राग के प्रति चिपकाव टूटता है तो द्वेष-दूषित होने का कोई कारण नहीं रह जाता। अतः द्वेष के कारण पैदा होनेवाले दुःखों से छुटकारा मिल जाता है। इसी प्रकार राग और द्वेष के कारण उत्पन्न होनेवाले भय, आशंका, घृणा, दुर्भावना, क्रोध, दौर्मनस्यता, ईर्ष्या, मात्सर्य आदि-आदि सभी प्रकार के मनोविकारों से छुटकारा मिल जाता है। और इनके कारण उत्पन्न होनेवाले सभी दुःखों से भी छुटकारा मिल जाता है। जहां दुःखों की जड़ उखड़ी वहीं सारे दुःख उखड़े। जहां दुष्प्रज्ञता उखड़ी, वहां उससे उत्पन्न होने वाले राग और द्वेष तथा तज्जनित अनेकानेक मनोविकारों का आवेग रुक गया। इसीलिए आवश्यक है कि दुःख से आत्यंतिक विमुक्ति पाने के लिए हम उसकी जड़ को उखाड़ फेंकें। मोहमूढ़ता को समूल नष्ट करें। प्रतिक्षण विद्या जागती रहे, प्रज्ञा जागती रहे, बोधिधर्म जागता रहे। बेहोशी में पड़कर राग की आसक्तियों में न उलझने पायें। इसी में हमारी वास्तविक सुख-शांति समायी हुई है। इसी में हमारा मंगल-कल्याण समाया हुआ है।

भवतु सब्ब मंगलं।

मन की गांठों में उलझ, व्याकुल हैं सब लोग ।
मन की गांठें सुलझतीं, विपश्यना के योग ॥

राग बढ़ाए द्वेष को, द्वेष बढ़ाए क्लेश ।
राग द्वेष दोनों मिटें, क्लेश रहे ना शेष ॥

मैल मैल तो सब कहें, पर समझे ना कोय ।
राग द्वेष ही, मोह ही, मैल चित्त के होंय ॥

निर्मल निर्मल सब कहें, पर जाने ना कोय ।
राग द्वेष के मोह के, छूटे निर्मल होय ॥

नन्हीं सी तृष्णा जगी, बनी गहन आसक्ति ।
जब तक मन आसक्त है, है न दुखों से मुक्ति ॥

राग द्वेष की, मोह की, जब तक मन में खान ।
तब तक सुख का, शांति का, जरा न नाम निशान ॥

राग द्वेष का, मोह का, मैल भरा भरपूर ।
विपश्यना जल से धुले, तो हो जाए दूर ॥

अंग अंग सब जल रहे, हर्ष करें या शोक ।
राग द्वेष की आग में, धधक रहे सब लोक ॥

राग द्वेष की, मोह की, घटा घुटी घनघोर ।
गहन रात को चीर कर, उगे धरम का भोर ॥

जब तक मन में मोह है, राग द्वेष भरपूर ।
तब तक मन संतप्त है, शांति बहुत ही दूर ॥

जब तक मन में राग है, जब तक मन में द्वेष ।
तब तक दुख ही दुःख है, मिटें न मन के क्लेश ॥

जितना गहरा राग है, उतना गहरा द्वेष ।
जितना गहरा द्वेष है, उतना गहरा क्लेश ॥

राग पाप का मूल है, द्वेष पाप का मूल ।
मोह पाप का मूल है, सुखी रहे निर्मूल ॥

राग द्वेष की मोह की, काल अंधेरी रात ।
प्रज्ञा का सूरज उगे, मंगल होय प्रभात ॥

क्रोध क्षोभ का मूल है, क्षांति शांति की खान ।
क्रोध छोड़ धारे क्षमा, होय अमित कल्याण ॥

राग जिसो ना रोग है, द्वेस जिसो ना दोस ।
मोह जिसो ना मूढ़ता, धरम जिसो ना होस ॥

प्रग्या जिसो न मुक्ति है, मोह जिसो ना कैद ।
रोस जिसो ना रोग है, बुद्ध जिसो ना बैद ॥

दया बनाल्यां द्वैस नै, करुणा करल्यां क्रोध ।
राग बदलल्यां त्याग सूं, तो ही चित्त विसोध ॥

संत संत तो सब कवै, बिण जाण्यां कुंण संत ।
राग द्वेस नै, मोह नै, सांत करै सो संत ॥

राग द्वेस अर मोह रा, अरि हण लीन्या जोय ।
मुक्त हुया, बंधन कट्या, अरिहन्ता है सोय ॥

राग रयां तो रैवसी, रोग सोक संताप ।
राग छुट्यां ही छूटसी, दुक्ख दैन्य परिताप ॥

हलको हुइग्यो जीवड़ो, छोड़ दिया लपचेड़ ।
गुड़ छूट्यो तो छूटग्यी, माख्यां हंदी छेड़ ॥

हिवड़ो भरग्यो द्वेस सूं, जिवड़ो व्याकल होय ।
अपणो ही दुखड़ो बढ्यो, सुखड़ो दीन्यो खोय ॥

द्वेस द्रोह महँ बावळो ! दीन्यो जनम बिताय ।
मिनख जमारो रतन सो, बिरथा दियो गंवाय ॥

मत औराँ पर रोस कर, मत कर दुरमन द्वेस ।
निज चित बिगड़यां, धरम को रै सी नाम न लेस ॥

हाय हाय करता हुयां, बीतै जनम तमाम ।
ना सुख निपजै सुबह ही, ना सुख निपजै साम ॥

मनवो ब्याकल हो र वै, जठै राग री प्यास ।
बीतराग होये बिना, कठै दुखां को नास ?

द्वेस छूटसी चित्त को, बढसी हिवड़ै प्यार ।
राग छूटसी चित्त को, खुलसी मुकतो द्वार ॥

जनम मरण सूं छुटण को, कितनी चीख पुकार ।
राग द्वेस सूं छुटण को, कोइ न करै विचार ॥

ज्यूं छायेड़ै पेड़ कै, तळै धूप ना आय ।
त्यूं साधेड़ै चित्त महँ, राग द्वेस ना आय ॥

मंगल हो !

मित्र वही जो हमारे मंगल में सहायक हो, कल्याण में सहयोगी हो, हमारी भलाई में साथी हो। ऐसा व्यक्ति जो भी हो, हमारा हितैषी ही है। उसके प्रति कृतज्ञतापूर्ण मंगल मैत्री का सद्भाव रखना ही सर्वथा उपयुक्त है, सर्वथा समीचीन है।

ऐसे किसी मित्र के प्रति किसी भी कारण से जब हमारे मन में दुर्भाव जागता है तो वह हमारे दूषित चित्त का ही परिचायक होता है। मित्र के प्रति दुर्भावना से भरा चित्त उस मित्र का कुछ बिगाड़े या न बिगाड़े, परन्तु हमारा अनर्थ अवश्य करता है। सामान्यतः ही हमारा दूषित चित्त हमें व्याकुल बनाता है। परन्तु अपने किसी उपकारी मित्र के प्रति उत्पन्न हुआ दूषित चित्त तो अत्यधिक व्याकुल बनाता है। यह अनुभूत सत्य है। अनुभवगम्य सत्य है।

ऐसे किसी मित्र के प्रति जब हमारे मन में सद्भाव जागता है तो वह हमारे स्वच्छ, सरल चित्त का ही परिचायक होता है। सद्भावों से भरा मांगलिक चित्त उस मित्र का जितना भला करता है, उससे कहीं अधिक हमारा अपना भला करता है। सामान्यतः ही हमारा सद्भावित चित्त हमें हर्षित-पुलकित करता है। परन्तु अपने किसी उपकारी मित्र के प्रति उत्पन्न हुआ सद्भावित चित्त तो हमें अत्यधिक हर्षित-पुलकित करता है। यह अनुभूत सत्य है। अनुभवगम्य सत्य है।

हो सकता है कोई व्यक्ति जो कभी हमारा परम मित्र रहा है, परम हितैषी रहा है, किसी कारणवश, भ्रांतिवश, स्वार्थपरता वश अथवा हमारी ही किसी भूल के कारणवश—यदि आज हमारा परम शत्रु बन गया हो, हमारे जीवन का ग्राहक बन बैठा हो तो उसे गलत काम करने से रोकने के लिए कठोर से कठोर व्यवहार करते हुए भी अपने अंतस को

उसके प्रति असीम मंगलमैत्री से ही भरे रखना है। यही उपयुक्त है।

उस व्यक्ति के वर्तमान व्यवहार को महत्त्व न देकर अतीत में जब कभी उसने हमारा जो भी उपकार किया हो, उसे याद करें। उसके प्यार दुलार को, स्नेह-सौमनस्यता को याद करें और उन्हीं यादों के आधार पर अपने मन की मृदुलता बनाएँ रखें, सद्भावना बनाए रखें। ऊपर-ऊपर से भले कठोर चट्टानी पत्थर दीखें पर भीतर से छलछलाते निर्मल निर्झर बने रहें।

साधको, मैं जानता हूं यह आसान नहीं है। जब कोई व्यक्ति अनीति का बर्ताव करने लगता है तो उसके प्रति तिलमिला उठना आसान है, मैत्री जाग्रत करना कठिन है। बहुत कठिन है। परन्तु कठिन होते हुए भी यही तो करणीय है। यही तो साधना है। यही तो तप है। यही तो संग्राम है। अपने आपके प्रति संग्राम। अपनी दुर्बलताओं के प्रति संग्राम। और यह संग्राम तो जीवन भर का है।

सच है! सती का संग्राम दो-चार पल का ही होता है। आग में कूदी और तुरंत बात समाप्त। शूर का संग्राम दो-चार घड़ी का ही होता है। रण-भूमि में उतरा, दो-दो हाथ हुए और बात समाप्त। पर साधक का संग्राम तो जीवन भर चलता है। जीवन भर जूझते रहना है उसे तो।

शूर संग्राम है घड़ी दो-चार का,
सती संग्राम पल चार भाई।
संत संग्राम है रात-दिन जूझना,
देह परजन्त का काम भाई॥

रात-दिन जूझना है। देह-पर्यंत जूझना है। अनीति और अन्याय की कठिन स्थितियां जीवन में जब-जब आएं तब-तब एक ओर उनका प्रबल प्रतिकार करते रहना है, दूसरी ओर रोम-रोम को मंगल भावों से परिपरित रखना है।

मंगल हो! कल्याण हो!! भला हो!!!

जिससे जीवन में कभी, मिला हृदय भर प्यार ।
उसका मुझसे हो नहीं, किंचित भी अपकार ॥

कोई बैरी सदृश हो, करे घोर अपकार ।
तो भी मन मैत्री रहे, करूं भले प्रतिकार ॥

रहूं बैरियों में मगर, चित्त बैर ना होय ।
सबका ही चाहूं भला, सच्चा मंगल होय ॥

मन मानस में प्यार ही, तरल तरंगित होय ।
रोम रोम से ध्वनि उठे, तेरा मंगल होय ॥

मित्र तुम्हारा हो भला ! हो मंगल ! कल्याण !
मन की कडुवाहट मिटे, मिले सुखों की खान !!

मेरे संचित पुण्य का, लाभ तुझे भी होय ।
शाप ताप सारे धुलें, तन मन सुखिया होय ॥

जगै द्वेष सूं द्वेष ही, जगै प्रीत सूं प्रीत ।
सक जागै संदेह सूं, याहि जगत की रीत ॥

कड़वी बातां भूल कर, जोड़ नयो संबंध ।
घाव न सूखै कुचरतां, बढै पीप दुर्गन्ध ॥

याद करै तो याद कर, बै दिन जद थो प्यार ।
प्यार मिटावै द्वेस नै, नेहो जगै अपार ॥

जगै चित्त महँ प्यार हो, चढै चित्त महँ चाव ।
दूर र वै दुरभावना, बढै स्नेह सद्भाव ॥

धीरज रख मन बावला ! देख द्वेस को ढेर ।
अै दिन सदा न रैवसी, मिटसी देर सबेर ॥

पतझड़ मिट कर आवसी, फेर बसंत बहार
स्वजनां रै हिय जागसी, फेर बिसो ही प्यार ।

धर्म-ज्योति

साधको !

मन मंदिर में धर्म ज्योति जगाए रखें। भीतर प्रज्ञा-प्रदीप प्रज्वलित रखें। भीतर का अंधकार दुखदायी होता है। वर्तमान के लिए भी, भविष्य के लिए भी। भीतर का प्रकाश मंगलदायी होता है। वर्तमान के लिए भी, भविष्यके लिए भी।

कभी-कभी बाह्य जीवनमें अंधकार छा जाता है। सारी बातें अवांछित होने लगती हैं। कुछ भी मनवांछित नहीं होता। ऐसी अवस्था में नासमझ आदमी भीतर का होश खो बैठता है। अन्तर की प्रज्ञा का प्रदीप बुझ जाता है। धर्म ज्योति विलुप्त हो जाती है। जैसे बाहर वैसे ही भीतर भी अंधकार ही अंधकार छा जाता है। अपने मन-मानस में द्वेष-द्रोह, चिड़चिड़ाहट-झुंझलाहट, रुदन-विलाप पैदा करता है। चित्तधारा पर आकुलता-व्याकुलता के अकुशल संस्कार-बीज बोता है। अब भी दुःखी होता है, भविष्य के लिए भी दुःख ही निर्माण करता है। भीतर अंधकार है इसलिए भविष्य के लिए भी अंधकार ही निर्माण करता है।

इसके विपरीत ऐसी ही प्रतिकूल परिस्थिति में एक समझदार आदमी अपने मनका संतुलन नहीं खोता, समता नहीं खोता। किसी अन्यके प्रति अपना मन मैला नहीं करता। धीरज-धर्म बनाए रखता है। प्रज्ञापूर्वक समझता रहता है कि यह स्थिति नित्य, शाश्वत, ध्रुव नहीं है। अनंतकाल तक रहनेवाली नहीं है। देर सबेर बदलेगी ही। जो भी लोग ऐसी विपरीत स्थिति पैदा करने के माध्यम बने हैं उनके प्रति मंगल-मैत्री ही सृजन करता है, द्वेष-द्रोह नहीं। चित्तधारा पर कुशल संस्कारों के बीज ही वपन करता है। फलतः इस समय भी शांति-सुख बनाए रखता है, भविष्य के लिए भी शांति—सुख ही तैयार करता है। भीतर धर्मज्योति जगमगाती है, तो अपने भविष्य को प्रकाश से भर लेता है।

एक अवस्था ऐसी भी आती है जबकि बाह्य जीवन सुख-समृद्धि से भरा होता है। धन-दौलत, सत्ता-प्रभुता, पद-प्रतिष्ठा, मान-सम्मान सभी कुछ प्राप्त होता है। सारी बातें मनवांछित होती हैं। अवांछित कुछ भी नहीं होता। ऐसी अनुकूल परिस्थिति में भी नासमझ आदमी भीतरसे होश खो बैठता है। भीतरका प्रज्ञा-प्रदीप बुझ जाता है। धर्म-ज्योति विलीन हो जाती है। अहंकार के दर्पमें प्रमत्त हुआ ऐसा मूढ़ व्यक्ति औरोंके साथ दुर्व्यवहार करता है। मानसकी अकड़न-जकड़न वाणी पर उतारता है, शरीर पर उतारता है। सारे लौकीय सुख प्राप्त होते हुए भी उद्विग्न-उत्तेजित रहता है, तनाव-खिंचाव से भरा रहता है। द्वेष-दौर्मनस्यसे भरा रहता है। चित्तधारा पर अकुशल संस्कारों के ही बीज बोता है। भीतर अंधकार है। अतः भविष्यके लिए भी अंधकार ही पैदा करता है।

परन्तु ऐसी ही मनोनुकूल अवस्था में एक समझदार व्यक्ति अपने मनका संतुलन नहीं खोता, समता नहीं खोता। गर्व-घमंडको पास नहीं फटकने देता। तनाव-खिंचावको नजदीक नहीं आने देता। भली भाँति समझता है कि यह मनोनुकूल स्थिति भी नित्य, शाश्वत ध्रुव नहीं है। अनंतकाल तक बनी रहनेवाली नहीं है। देर सबेर बदलेगी। जब तक कायम है, कैसे इसका सदुपयोग कर लूं! अपने भलेके लिए भी, औरोंके भलेके लिए भी। यों मनमें प्रज्ञा-प्रदीप जलाए रखता है तो चित्तधारा पर मैत्री और करुणाके, कुशल संस्कारोंके कर्म-बीज ही बोता है। वर्तमान भी प्रकाशमान, भविष्य भी प्रकाशमान। अब भी सुखी, भविष्य में भी सुखी।

साधको! जीवनमें उतार-चढ़ाव तो आते ही रहते हैं। ज्वार-भाटा, बसंत-पतझड़ का सामना करते ही रहना पड़ता है। पर सभी अवस्थाओं में हम अपना मानसिक संतुलन बनाए रखें, समता बनाए रखें। और यह तभी होगा जबकि अन्तरका प्रज्ञाप्रदीप जलाएं रखें, र्ध-ज्योति जगमगाएं रखें।

यह मंगल-मूल है!

मंगल मित्र, स.ना.गो.

राग सदृश ना रोग है, द्वेष सदृश ना दोष ।
मोह सदृश ना मूढ़ता, धर्म सदृश ना होश ॥

क्षण क्षण जाग्रत ही रहे, शुद्ध सत्य का बोध ।
मन की समता स्थिर रहे, तो ही दुःख-निरोध ॥

सुख-दुख आते ही रहें, ज्यों भाटा ज्यों ज्वार ।
मन विचलित होवे नहीं, देख चढ़ाव-उतार ॥

जीवन में आंधी चले, चले तेज तूफान ।
पर्वत सा अविचल रहे, यही संत पहचान ॥

ना कोई से राग है, ना कोई से द्वेष ।
सबसे समता मित्रता, धन्य सन्त धरमेश ॥

धर्म-ज्योति जग में जगे, होय विषमता दूर ।
छाये समता सुखमयी, मंगल से भरपूर ॥

जीवन में आते रहें, पतझड़ और बसंत ।
शैल सदृश अविचल रहे, धर्म विहारी संत ॥

इस आतंकित जगत में, रहता संत निशंक ।
नीरज पंकज सा विमल, नीर लगे ना पंक ॥

हार जीत निंदा सुयश, हानि लाभ के द्वन्द ।
सदा जगावें विषमता, व्यथित रहे मतिमन्द ।।

तन सुख, मन सुख, मान सुख, भले ध्यान सुख होय ।
पर समता सुख, परम सुख, ऐसा सुख ना कोय ।।

संवेदन तो हो मगर, हो न राग ना द्वेष ।
नए करम बांधे नहीं, होय पुरातन शेष ।।

एक एक कर पाप की, परत उतरती जाय ।
निर्मल निर्मल चित्त की, चाल सुधरती जाय ।।

ज्यों ज्यों अन्तर्जगत में, समता बढ़ती जाय ।
काया वाणी चित्त के, कर्म सुधरते जायं ।।

राग छुटे समता बढ़े, मिलें परम संतोष ।
दूर होयं बेचैनियां, मिले शांति सुख-कोष ।।

संकट में ही धर्म की, सही परीक्षा होय ।
मन की समता ना छुटे, धरमवन्त है सोय ।।

जागी चित्त महँ बिसमता, सुखड़ा लीन्या लूट ।
बै घड़ियां कद आवसी ? "मैं-मैं" जासी छूट ॥

आयां सुख मानै नहीं, जायां दुख ना होय ।
चित्त द्वन्द जो जीतगो, साचो बिजयी सोय ॥

बिसयां रै सागै र वै, जागै नांय बिकार ।
इसै अनोखै संत नै, बन्दूं बारम्बार ॥

संपद जावै या र वै, मिलै मान अपमान ।
धीर पुरुस अविचल र वै, सुख-दुख एक समान ॥

दिन पलट्या, बिपदा बढ़ी, राख हियै महँ धीर ।
सुख की घड़ियाँ सै हँसै, दुख हाँसै सो बीर ॥

त्यागै अन्तरजगत सूं, राग द्वेस का मैल ।
सुख-दुख सूं अविचल र वै, ज्यूं परबत, ज्यूं सैल ॥

मन समता महँ थिर हुवै, होवै दूर विकार ।
रोग सोक मत्तै मिटै, मिलै सांति सुख सार ॥

जन मन ब्यापी बिसमता, बुझी धरम की जोत ।
सरिता सूखी सांति की, सूख्या सुख का स्रोत ।।

संकट आयो देख कर, चित समता मत खोय ।
धैर्य धरम सूं सहन कर, अंत भलो ही होय ।।

धन आयां अकड़ै नहीं, जायां छुटै न धीर ।
समता रो जीवन जिवै, र वै सदा बेपीर ।।

मनचाही होवै कदे, अनचाही भी होय ।
धूप छांव री जिन्दगी, के हांसै ? के रोय ?

सुख मँह तो मत्तै जगै, होठां पर मुस्कान ।
दुख मँह जो मुसका सकै, बो सतपुरुष सुजान ।।

यो न कदे होयो, हुवै, सुख ही सुख को भोग ।
सुख दुख दोनूं ही मिलै, इसो करम संजोग ।।

सुख दुख आता ही र वै, ज्यूं आवै दिन रैन ।
तूं क्यूं खोवै बावळा ! अपणै मन की चैन ।।

कठै गंवायो बावळा ! साम्य धरम रो तत्त ।
"मैं-मैं" की मदिरा चढ़ी, मानस हुयो प्रमत ।।

विपश्यना क्या ? क्यों ?

विपश्यना साधना भगवान गौतम बुद्ध की बताई हुई एक चित्त-विशोधन-विधि है जो कि सहज है, सरल है, मिथ्या आडम्बरों और अंध-विश्वासों से विहीन नितांत वैज्ञानिक है।

विपश्यना याने विशेष रूप से देखना। अपने यथार्थ स्वरूप का स्वयं निरीक्षण करना। शील पालन करते हुए श्वास प्रश्वास पर चित्त एकाग्र करना और तदनन्तर अंतर्मुखी होकर काया और चित्त के यथाभूत स्वभाव और क्रियाओं का निरीक्षण करना। स्वानुभूति के बल पर उनके अनित्य, दुःखमय, निस्सार स्वभाव को समझना। इस प्रकार उनके प्रति उत्पन्न होने वाली गहन आसक्तियों से दूर होकर मुक्त जीवन जीना—यही विपश्यना है।

शील-सदाचारी यानी हिंसा, चोरी, व्यभिचार, झूठ और मद्य सेवन से विरत रहने वाले संयमशील मानव तैयार करना, चित्त-एकाग्रता द्वारा मानव-मन की प्रसुप्त शक्तियों को जाग्रत करके उन्हें अपने-अपने कार्य-क्षेत्र में अधिक से अधिक निपुण बनाना; प्रज्ञा के अभ्यास द्वारा राग, द्वेष, काम, क्रोध, भय, आशंका आदि-आदि अकुशल वृत्तियों का शमन, निर्मूलन करके चित्त को विशुद्ध करना और उसे मैत्री, करुणा, मुदिता तथा उपेक्षा रूपी ब्राह्मी सद्गुणों से भरना जिससे कि मानव-मानव में पारस्परिक स्नेह, सहानुभूति, सहयोग, सहिष्णुता और स्वार्थ-विहीन सेवाभाव के सद्गुणों का विकास हो, यही विपश्यना का सर्व-लोक-हितकारी लक्ष्य है।

विपश्यना साधना का प्रशिक्षण लोगों को किसी सम्प्रदाय में दीक्षित करने के लिए नहीं है। बल्कि धर्म में दीक्षित करने के लिए है। धर्म यानी सार्वजनीन, सर्वहितकारी, सार्वकालिक, सनातन धर्म, मानव धर्म। धर्म

का अर्थ है–शांतचित्त का शुद्ध, सरल, स्वच्छ व्यवहार। विपश्यना विधि को किसी भी जाति, वर्ग, सम्प्रदाय, देश, काल और बोली-भाषा का व्यक्ति सरलता से अपना सकता है। सभी के लिए यह समान रूप से कल्याणकारी है।

विपश्यना-प्रशिक्षण के लिए भारत तथा विदेशों में अनेक साधना-केन्द्र स्थापित हो रहे हैं। भारत के प्रमुख तीन केन्द्रों में प्रशिक्षण का काम विधिवत होने लगा है, जिनमें साधकों के समुचित निवास एवं भोजनादिकी स्थायी व्यवस्था है और समय-समय पर पू. गुरुदेव एवं सहायक आचार्यों द्वारा संचालित ११ दिवसीय शिविर, पुराने साधकों के लिए लघु-शिविर तथा स्वयंशिविर चलते रहते हैं। इनके अतिरिक्त अनेक स्थानों पर केन्द्र-निर्माण का काम अपनी प्राथमिक अवस्था में है।

भवतु सब्ब मंगल !

निम्नलिखित केन्द्रों में हर माह ११ दिवसीय आवासीय शिविर आयोजित होते हैं। इच्छुक व्यक्ति अपनी सुविधानुसार किसी भी केन्द्र से शिविर की तारीखों की जानकारी करके सम्मिलित हो सकते हैं।

"विपश्यना" प्रशिक्षणका प्रमुख ध्यान-केन्द्र महाराष्ट्र में स्थापित हुआ है:-

"विपश्यना विश्व विद्यापीठ" **(विपश्यना शोध संस्थान)**

धम्मगिरि, इगतपुरी-४२२४०३

(नासिक-महाराष्ट्र) फोन नं. इगतपुरी-७६

(यहाँ लगातार शिविर आयोजित होते रहते हैं)

अन्य केन्द्र :-

१. "विपश्यना अन्तर्राष्ट्रीय साधना केन्द्र"
धम्मखेत्त, पोस्ट-वनस्थलीपुरम्,
आफ-१२.६ किमी. नागार्जुन सागर रोड,
हैदराबाद- ५००६६१ (आंध्रप्रदेश)

२. "विपश्यना केन्द्र"
धम्मथली, सिसोदिया गार्डन-गल्ताजी रोड
पोस्ट- जयसिंहपुरा खोर, जयपुर- ३०३११८ (राजस्थान)
फोन नं. ४१२८३.

३. "नेपाल विपश्यना केन्द्र"
धर्मश्रृंग, बूढ़ा नीलकंठ, मुहानपोखरी
काठमांडू (नेपाल)

४. Vipassana Meditation Centre,
धम्मधरा, P. O. Box No. 24, Shelburne Falls
Massachusettes 01370, U.S.A. Tel. (413) 625-2160

५. Vipassana Meditation Centre,
धम्मभूमि, P.O. Box 103,
Blackheath, N.S.W. 2785, Australia Tel. (047)877-43